मिट्टी के दीए

आचार्य रजनीश

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली :: वाराणसी :: पटना

मोतीलाल बनारसीदास
प्रधान कार्यालय : बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७
शाखाएँ : १. चौक, वाराणसी (उ० प्र०)
२. अशोक राजपथ, पटना (बिहार)

द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण, १९७१

मूल्य : रु० ५.००

आचार्य रजनीश : एक परिचय

आचार्य रजनीश वर्तमान युग के युवा-द्रष्टा, क्रांतिकारी विचारक, आधुनिक संत, रहस्यदर्शी ऋषि और जीवन-सर्जक हैं।

वैसे तो धर्म, अध्यात्म और साधना में ही इनका जीवन-प्रवाह है; लेकिन कला, साहित्य, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, आधुनिक विज्ञान आदि में भी ये अनूठे और अद्वितीय हैं।

जो भी ये बोलते हैं, करते हैं, वह सब जीवन की आत्यंतिक गहराइयों और अनुभूतियों से उद्भूत होता है। ये हमेशा जीवन-समस्याओं की गहनतम जड़ों को स्पर्श करते हैं। जीवन को उसकी समग्रता में जानने, जीने और प्रयोग करने के ये जीवन्त प्रतीक हैं।

जीवन की चरम ऊँचाइयों में जो फूल खिलने संभव हैं, उन सबका दर्शन इनके व्यक्तित्व में संभव है।

११ दिसम्बर, १९३१ को मध्यप्रदेश के एक छोटे-से गांव में इनका जन्म हुआ। दिन-दुगुनी और रात-चौगुनी इनकी प्रतिभा विकसित होती रही। सन् १९५७ में इन्होंने सागर-विश्वविद्यालय से दर्शन-शास्त्र में एम० ए० की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ प्राप्त की। ये अपने पूरे विद्यार्थी-जीवन में बड़े क्रांतिकारी और अद्वितीय जिज्ञासु तथा प्रतिभाशाली छात्र रहे। बाद में रायपुर और जबलपुर के दो महाविद्यालयों में क्रमशः एक और आठ वर्ष के लिए आचार्य (प्रोफेसर) के पद पर शिक्षण-कार्य करते रहे। इस बीच इनका पूरे देश में घूम-घूमकर प्रवचन देने और साधना-शिविर आयोजित करने का कार्य भी चलता रहा।

बाद में अपना पूरा समय प्रायोगिक साधना के विस्तार और धर्म के पुनरुत्थान में लगाने के उद्देश्य से ये सन् १९६६ में नौकरी छोड़ कर आचार्यपद से मुक्त हुए। इनके प्रवचनों और साधना-शिविरों से प्रेरणा पाकर अनेक प्रमुख शहरों में उत्साही प्रेमियों ने जीवन-जागृति-केन्द्र के नाम से एक मित्रों और साधकों का मिलन-स्थल (संस्थान) स्थापित किया है। वे आचार्यश्री के प्रवचन

इस "नव संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था" (Neo-Sannyas International) में अब तक ४३२ व्यक्तियों ने संन्यास-जीवन में प्रवेश किया है। कुछ ही वर्षों में इनकी संख्या हजारों की होने वाली है। ये संन्यासी-जीवन की पूर्ण सघनता और व्यवहार में सक्रिय भाग लेने के साथ ही साथ विशिष्ट साधना-पद्धतियों में रत हैं। इस दिशा में संन्यासियों का एक कम्यून "विश्वनीड़" के नाम से पोस्ट आजोल, तालुका-बीजापुर, जिला-महेसाणा (गुजरात) में कार्यरत हो चुका है। ये संन्यासी आचार्यश्री रजनीश की नई जीवन-दृष्टि, जीवन-सृजन, जीवन-शिक्षा एवं प्रायोगिक धर्म-साधना के बहु-आयामों में निपुण एवं सक्षम होकर भारत तथा विश्व के कोने-कोने में धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान तथा "धर्म-चक्र-प्रवर्तन" हेतु बाहर निकल रहे हैं।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व अथाह सागर–जैसा है। इनके सम्बन्ध में संकेत-मात्र हो सकते हैं। जो व्यक्ति परम आनंन्द, परम शांति, परम मुक्ति, परम निर्वाण को उपलब्ध होता है उसके श्वास-श्वास से, रोएँ-रोएँ से, प्राणों के कण-कण से एक संगीत, एक गीत, एक नृत्य, एक आह्लाद, एक सुगंध, एक आलोक, एक अमृत की प्रतिपल वर्षा होती रहती है और समस्त अस्तित्व उससे नहा उठता है। इस संगीत, इस गीत, इस नृत्य को कोई प्रेम कहता है, कोई आनंद कहता है और कोई मुक्ति कहता है। लेकिन ये सब एक ही सत्य को दिए गए अलग-अलग नाम हैं।

ऐसे ही व्यक्ति हैं—आचार्य रजनीश, जो मिट गए हैं, शून्य हो गए हैं, जो अस्तित्व और अनस्तित्व के साथ एक हो-गए हैं, जिनका श्वास-श्वास अंतरिक्ष का श्वास हो गया है, जिनके हृदय की धड़कनें चाँद-तारों की धड़कनों के साथ एक हो गई हैं, जिनकी आँखों में सूरज-चाँद-सितारों की रोशनी देखी जा सकती है, जिनकी मुस्कराहटों में समस्त पृथ्वी के फूलों की सुगंध पाई जा सकती है, जिनकी वाणी में पक्षियों के प्रातः गीतों की निर्दोषता और ताजगी है और जिनका सारा व्यक्तित्व ही एक कविता, एक नृत्य और एक उत्सव हो गया है।

इस नृत्यमय, संगीतमय, सुगंधमय, आलोकमय व्यक्तित्व से प्रतिपल निकलनेवाली प्रेम की, करुणा और लहरों के साथ जब लोगों की जिज्ञासा और मुमुक्षा का संयोग होता है तब प्रवचनों के रूप में ज्ञान-गंगा बह उठती है।

और शिविर आयोजित करते हैं तथा पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था करते हैं। **जीवन-जागृति आन्दोलन** का प्रमुख कार्यालय बम्बई में लगभग आठ वर्षों से कार्य कर रहा है। अब तो आचार्यश्री भी अपने जबलपुर के निवास-स्थान को छोड़ कर १ जुलाई, १९७० से स्थायी रूप से बम्बई में आ गए हैं, ताकि जीवन-जागृति आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय रूप को सहयोग मिल सके।

जीवन-जागृति आन्दोलन की ओर से एक मासिक पत्रिका "युक्रान्द" (युवक क्रांति दल का मुख-पत्र) पिछले दो वर्षों से तथा एक त्रैमासिक पत्रिका "ज्योतिशिखा" पिछले पाँच वर्षों से प्रकाशित हो रही है। आचार्यश्री के प्रवचनों के संकलन ही पुस्तकाकार में प्रकाशित कर दिए जाते हैं। अब तक लगभग २६ बड़ी पुस्तकें तथा २१ छोटी पुस्तिकाएँ मूल हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। अधिकतर पुस्तकों के गुजराती, अँग्रेजी और मराठी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। १३ नई अप्रकाशित पुस्तकें प्रेस के लिए तैयार पड़ी हैं। अब तक आचार्यश्री प्रवचनमालाओं में तथा साधना-शिविरों में लगभग २००० घंटे जीवन, जगत और साधना के सूक्ष्मतम तथा गहनतम विषयों पर सविस्तार चर्चाएँ कर चुके हैं।

अब भारत के बाहर भी अनेक देशों में इनकी पुस्तकें लोगों की प्रेरणा और आकर्षण का केन्द्र बनती जा रही हैं। हजारों की संख्या में देशी तथा विदेशी साधक इनसे विविध गूढ़तम साधना-पद्धतियों एवं प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रेरणा पा रहे हैं। योग और अध्यात्म के संदेश एवं प्रयोगात्मक जीवन-क्रान्ति के प्रसार-हेतु विभिन्न देशों से इनके लिए आमंत्रण आने शुरू हो गए हैं। शीघ्र ही भारत ही नहीं वरन् अनेक पाश्चात्य देशवासी भी इनके व्यक्तित्व से प्रेरणा और सृजन की दिशा पा सकेंगे।

२५ सितम्बर, १९७० को मनाली में आयोजित एक दस दिवसीय साधना-शिविर में आचार्यश्री के जीवन का नया आयाम सामने आया। इन्होंने वहाँ कहा कि संन्यास जीवन की सर्वोच्च समृद्धि है, अतः उसे पूर्णता में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। इन्हें वहाँ प्रेरणा हुई कि ये संन्यास-जीवन को एक नया मोड़ देने में सहयोगी हो सकेंगे और नाचते हुए, गीत गाते हुए, आनंदमग्न, समस्त जीवन को आलिंगन करने वाले, सशक्त और स्वावलम्बी संन्यासियों के साक्षी बन सकेंगे। शिविर में तथा उसके बाद भी अनेक व्यक्तियों ने सीधे परमात्मा से संन्यास की दीक्षा ली। आचार्यश्री इस घटना के साक्षी रहे।

इस "नव संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय-संस्था" (Neo-Sannyas International) में अब तक ४३२ व्यक्तियों ने संन्यास-जीवन में प्रवेश किया है। कुछ ही वर्षों में इनकी संख्या हज़ारों की होने वाली है। ये संन्यासी-जीवन की पूर्ण सघनता और व्यवहार में सक्रिय भाग लेने के साथ ही साथ विशिष्ट साधना-पद्धतियों में रत हैं। इस दिशा में संन्यासियों का एक कम्यून "विश्वनीड़" के नाम से पोस्ट आजोल, तालुका-बीजापुर, जिला-महेसाणा (गुजरात) में कार्यरत हो चुका है। ये संन्यासी आचार्यश्री रजनीश की नई जीवन-दृष्टि, जीवन-सृजन, जीवन-शिक्षा एवं प्रायोगिक धर्म-साधना के बहु-आयामों में निपुण एवं सक्षम होकर भारत तथा विश्व के कोने-कोने में धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान तथा "धर्म-चक्र-प्रवर्तन" हेतु बाहर निकल रहे हैं।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व अथाह सागर–जैसा है। इनके सम्बन्ध में संकेत-मात्र हो सकते हैं। जो व्यक्ति परम आनंन्द, परम शांति, परम मुक्ति, परम निर्वाण को उपलब्ध होता है उसके श्वास-श्वास से, रोएँ-रोएँ से, प्राणों के कण-कण से एक संगीत, एक गीत, एक नृत्य, एक आल्लाद, एक सुगंध, एक आलोक, एक अमृत की प्रतिपल वर्षा होती रहती है और समस्त अस्तित्व उससे नहा उठता है। इस संगीत, इस गीत, इस नृत्य को कोई प्रेम कहता है, कोई आनंद कहता है और कोई मुक्ति कहता है। लेकिन ये सब एक ही सत्य को दिए गए अलग-अलग नाम हैं।

ऐसे ही व्यक्ति हैं—आचार्य रजनीश, जो मिट गए हैं, शून्य हो गए हैं, जो आस्तित्व और अनस्तित्व के साथ एक हो-गए हैं, जिनका श्वास-श्वास अंतरिक्ष का श्वास हो गया है, जिनके हृदय की धड़कनें चाँद-तारों की धड़कनों के साथ एक हो गई हैं, जिनकी आँखों में सूरज-चाँद-सितारों की रोशनी देखी जा सकती है, जिनकी मुस्कराहटों में समस्त पृथ्वी के फूलों की सुगंध पाई जा सकती है, जिनकी वाणी में पक्षियों के प्रातः गीतों की निर्दोषता और ताजगी है और जिनका सारा व्यक्तित्व ही एक कविता, एक नृत्य और एक उत्सव हो गया है।

इस नृत्यमय, संगीतमय, सुगंधमय, आलोकमय व्यक्तित्व से प्रतिपल निकलनेवाली प्रेम की, करुणा और लहरों के साथ जब लोगों की जिज्ञासा और मुमुक्षा का संयोग होता है तब प्रवचनों के रूप में ज्ञान-गंगा बह उठती है।

निवेदन

"मैं मनुष्य के आरपार देखता हूँ तो क्या पाता हूँ? पाता हूँ कि मनुष्य भी एक मिट्टी का दीया है। लेकिन वह मिट्टी का दीया मात्र ही नहीं है। उसमें वह ज्योति-शिखा भी है जो निरंतर सूर्य की ओर ऊपर उठती रहती है। मिट्टी उसकी देह है। उसकी आत्मा तो यह ज्योति ही है। किन्तु जो इस सतत ऊर्ध्वगामी ज्योतिशिखा को विस्मृत कर देता है, वह बस मिट्टी ही रह जाता है। उसके जीवन में ऊर्ध्वगमन बंद हो जाता है। और जहाँ ऊर्ध्वगमन नहीं है, वहाँ जीवन ही नहीं है।"

"मित्र, स्वयं के भीतर देखो। चित्त के सारे धुएँ को दूर कर दो और उसे देखो जो चेतना की लौ है। स्वयं में जो मर्त्य है, उसके ऊपर दृष्टि को उठाओ और उसे पहचानो जो अमृत है। उसकी पहचान से अधिक मूल्यवान कुछ भी नहीं है, क्योंकि, वही पहचान स्वयं के भीतर पशु की मृत्यु और परमात्मा का जन्म बनती है।"

आचार्य श्री रजनीश के इन अमृत-शब्दों के साथ उनके प्रवचनों, चर्चाओं और पत्रों से संकलित बोध-कथाओं का यह संग्रह आपको भेंट करते हुए मैं अत्यन्त आनन्द-अनुभव कर रहा हूँ। परमात्मा उनकी वाणी को आपके भीतर एक ऐसी अभीप्सा बना दे, जो चित्त के सोए जीवन से आत्मा की जागृति के लिए एक अभिनव प्रेरणा और परिवर्तन बन जाती है। यही मेरी प्रार्थना और कामना है।

अरविन्द

१

एक कथा मैंने सुनी थी। हजारों वर्ष पूर्व परमात्मा के मंदिरों का एक नगर सागर में डूब गया था। उस सागर में डूबे उन मंदिरों की घंटियाँ आज भी बजती रहती हैं। शायद पानी के धक्के उन्हें बजा देते होंगे या यहाँ-वहाँ भागती मछलियों से टकराकर वे बजती रहती होंगी। जो भी हो, घंटियाँ आज भी बजती हैं और आज भी उनके मधुर संगीत को उस सागर के तट पर जाकर सुना जा सकता है।

मैं भी उस संगीत को सुनना चाहता था। मैं उस सागर की खोज में गया। बहुत वर्षों की भटकन के बाद अंततः उस सागर तट पर पहुँच ही गया। किन्तु यह क्या, वहाँ तो सागर का तुमुलनाद गूंज रहा था—लहरों के थपेड़े चट्टानों से टकराकर उस एकांत में अनन्त गुना हो प्रतिध्वनित हो रहे थे। न तो वहाँ कोई संगीत था, न किन्हीं मंदिरों की बजती कोई घंटियाँ थीं। मैं तट पर कान लगाकर सुनता था, लेकिन वहाँ तो तट पर टूटती लहरों की ध्वनि के अतिरिक्त और कुछ भी न था।

फिर भी मैं रुका रहा। वस्तुतः लौटने का मार्ग ही मैं भूल गया था। अब तो वह अपरिचित निर्जन सागर-तट ही मेरी समाधि बनने को था।

फिर धीरे-धीरे सागर में डूबे मंदिरों की घंटियाँ सुनने का ख्याल भी मुझे भूल गया। मैं उस सागर के किनारे ही बस गया था।

फिर एक रात्रि अचानक मैंने पाया कि डूबे मंदिरों की घंटियाँ बज रही हैं और उनका मधुर संगीत मेरे प्राणों को आन्दोलित कर रहा है।

मैं उस संगीत को सुनकर जाग गया और फिर तब से सो नहीं सका। अब तो भीतर कोई निरन्तर ही जागा हुआ है। निद्रा सदा को ही चली गई है।

और जीवन आलोक से भर गया है, क्योंकि जहाँ निद्रा नहीं है, वहाँ अंधकार नहीं है।

और मैं आनन्द में हूँ···नहीं, नहीं···मैं आनन्द ही हो गया हूँ, क्योंकि जहाँ परमात्मा के मंदिर का संगीत है, वहाँ दुख कहाँ ?

क्या तुम भी उस सागर के किनारे चलना चाहते हो ? क्या तुम्हें भी परमात्मा के डूबे मंदिरों का संगीत सुनना है ?

तो चलो। स्वयं के भीतर चलो। स्वयं का हृदय ही वह सागर है और उसकी गहराइयों में ही परमात्मा के डूबे हुए मंदिरों का नगर है।

लेकिन, उसके मंदिरों का संगीत सुनने में केवल वे ही समर्थ होते हैं, जो सब भाँति शांत और शून्य हों।

विचार और वासना का कोलाहल जहाँ है, वहाँ उसका संगीत कैसे सुन पड़ेगा ? उसे पाने की वासना तक भी उसे पाने में बाधा बन जाती है।

२

एक अंधेरी रात्रि में मैं आकाश के तारों को देख रहा था। सारा नगर सोया हुआ था। उन सोए हुए लोगों पर मुझे बहुत दया आ रही थी। वे बेचारे दिनभर की अधूरी वासनाओं के पूर्ण होने के स्वप्न ही देख रहे होंगे। स्वप्न में ही वे जागते हैं, और स्वप्न में ही सोते हैं। न वे सूर्य को देखते हैं, न चाँद को, न तारों को। वस्तुतः जो आँखें स्वप्न देखती हैं, वे आँखें उसे नहीं देख पाती हैं। सत्य को देखने के लिए आँखों से स्वप्नों की धूल हट जाना अत्यन्त आवश्यक है।

रात्रि जैसे-जैसे गहरी होती जाती थी, वैसे-वैसे आकाश में तारे बढ़ते जाते थे। धीरे-धीरे तो पूरा आकाश ही उनसे जगमग हो उठा था। और आकाश ही नहीं, उनके मौन सौंदर्य से मैं भी भर गया था। आकाश के तारों को देखते-देखते क्या आत्मा का आकाश भी तारों से ही नहीं भर जाता है? वस्तुतः मनुष्य जो देखता है, उसी से भर जाता है। क्षुद्र को देखनेवाला क्षुद्र से भर जाता है, विराट को देखनेवाला विराट से। आँखें आत्मा के द्वार हैं।

मैं एक वृक्ष से टिका आकाश में खोया ही था कि तभी किसी ने पीछे से आकर मेरे कंधे पर अपना ठंडा और मुर्दा हाथ रख दिया। उसकी पग-ध्वनियाँ भी मुझे सुनाई पड़ी थीं। वे ऐसी नहीं थीं, जैसी किसी जीवित व्यक्ति की होनी चाहिए, और उसका हाथ तो इतना निर्जीव था कि अँधेरे में भी उसकी आँखों में भरे भावों को समझने में मुझे देर नहीं लगी। उसके शरीर का स्पर्श उसके मन की हवाओं को भी मुझ तक ले आया था। वह व्यक्ति तो जीवित था और युवा था, लेकिन जीवन कभी का उससे विदा ले चुका था, और यौवन तो संभवतः उसके मार्ग पर अभी आया ही नहीं था।

हम दोनों तारों के नीचे बैठ गए थे। उसके मुर्दा हाथों को मैंने अपने हाथों में ले लिया था, ताकि वे थोड़े गर्म हो सकें और मेरी जीवन-ऊष्मा भी उनमें प्रवाहित हो सके। संभवतः वह अकेला था और प्रेम उसे जिला सकता था।

निश्चय ही ऐसे समय बोलना तो उचित नहीं था और इसीलिए मैं चुप ही रहा। हृदय मौन में ही कहीं ज्यादा निकटता पाता है और शब्द जिन घावों

को नहीं भर सकते, मौन उन्हें भी स्वस्थ करता है। शब्द और ध्वनियां तो पूर्ण संगीत में विघ्न और बाधाएं ही हैं।

रात्रि मौन थी, और मौन हो गई। उस शून्य संगीत ने हम दोनों को घेर लिया। वह अब मुझे अपरिचित नहीं था। उसमें भी मैं ही था। फिर उसकी पाषाण-जैसी जड़ता टूटी और उसके आँसुओं ने खबर दी कि वह पिघल रहा है। वह रो रहा था और उसका सारा शरीर कंपित हो रहा था। उसके हृदय में जो हो रहा था, उसकी तरंगें उसके शरीर तंतुओं तक आ रही थीं। वह रोता रहा······रोता रहा···रोता रहा और फिर बोला : "मैं मरना चाहता हूँ। मैं अत्यन्त निर्धन और निराश हूँ। मेरे पास कुछ भी तो नहीं है ?"

मैं थोड़ी देर और चुप, रहा और फिर धीरे-धीरे मैंने उससे एक कहानी कही। मैंने कहा : "मित्र ! मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक फकीर से किसी युवक ने जाकर कहा था : "परमात्मा ने सब कुछ मुझ से छीन लिया है। मृत्यु के अतिरिक्त मेरे लिए अब कोई मार्ग नहीं है।"

क्या वह युवक तुम ही तो नहीं हो ?

उस फकीर ने युवक से कहा था : "मैं तो तेरे पास छिपा हुआ एक बड़ा खजाना देख रहा हूँ ? क्या उसे बेचेगा ? उसे बेच दे तो तेरा सब काम बन जाय और परमात्मा की बदनामी भी बचे ?"

तुम वह युवक हो या नहीं ? पता नहीं। लेकिन फकीर मैं वही हूँ और लगता है कि कहानी फिर से दुहर रही है।

वह युवक हैरान हुआ था और शायद तुम भी हैरान हो रहे हो। उसने पूछा था : "खजाना ? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है !"

इस पर फकीर हँसने लगा था और बोला था : "चलो, मेरे साथ बादशाह के पास चलो। बादशाह बड़ा समझदार है। छिपे खजानों पर उसकी सदा से ही गहरी नजर रही है। वह जरूर ही तुम्हारा खजाना खरीद लेगा। मैं पहले भी बहुत से छिपे खजानों के बेचनेवालों को उसके पास ले गया हूँ !"

वह युवक कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। उसके लिए तो फकीर की सारी बातचीत ही पहेली थी। लेकिन फिर भी वह उसके साथ बादशाह के महल की ओर चला। मार्ग में फकीर ने उससे कहा : "कुछ बातें पहले से तय

कर लेना आवश्यक है ताकि बादशाह के सामने कोई झंझट न हो। वह बादशाह ऐसा है कि जो चीज उसे पसंद हो, उसे फिर किसी भी मूल्य पर छोड़ता नहीं है। इसीलिए यह भी जान लेना जरूरी है कि तुम उस चीज को बेचने को राजी भी हो या नहीं ?"

वह युवक बोला : "कौन-सा खजाना ? कौन-सी चीजें ?"

फकीर ने कहा : "जैसे, तुम्हारी आँखें ? इनका क्या मूल्य लोगे ? मैं ५० हजार तक बादशाह से दिला सकता हूँ। क्या यह रकम पर्याप्त नहीं है ? या जैसे तुम्हारा हृदय या मस्तिष्क, इनके तो एक-एक लाख भी मिल सकते हैं !"

वह युवक हैरान हुआ और अब समझा कि फकीर पागल है। बोला : "क्या आप पागल हो गए हैं ? आँखें ? हृदय ? मस्तिष्क ? आप यह कह क्या रहे हैं ? मैं इन्हें तो किसी भी मूल्य पर नहीं बेच सकता। और मैं ही क्यों ? कोई भी नहीं बेच सकता है।"

फकीर हँसने लगा और बोला : "मैं पागल हूँ या तू ? जब तेरे पास इतनी बहुमूल्य चीजें हैं, जिन्हें तू लाखों में भी नहीं बेच सकता, तो झूठ-मूठ निर्धन क्यों बना हुआ है ? इनका उपयोग कर। जो खजाना उपयोग में नहीं आता, वह भरा हुआ भी खाली है, और जो उपयोग में आता है, वह खाली भी हो तो भर जाता है। परमात्मा खजाने देता है—अकूत खजाने देता है, लेकिन उन्हें खोजना और खोदना स्वयं ही पड़ता है। जीवन से बड़ी कोई संपदा नहीं है। जो उसमें ही संपदा नहीं देखता, वह संपदा को और कहाँ पा सकता है ?"

रात्रि आधी से ज्यादा बीत गई थी। मैं उठा और मैंने उस युवक से कहा : "जाओ और सो जाओ। सुबह एक दूसरे ही व्यक्ति की भाँति उठो। जीवन वैसा ही है, जैसा हम उसे बनाते हैं। वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है। उसे हम मृत्यु भी बना सकते हैं, और अमृत भी। सब कुछ स्वयं के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर नहीं है। फिर मृत्यु तो अपने आप आ जायगी। उसे बुलावा देने की आवश्यकता नहीं है। बुलाओ अमृत को। पुकारो परमजीवन को। वह तो श्रम से, शक्ति से, संकल्प से और साधना से ही मिल सकता है।"

को नहीं भर सकते, मौन उन्हें भी स्वस्थ करता है। शब्द और ध्वनियाँ तो पूर्ण संगीत में विघ्न और बाधाएँ ही हैं।

रात्रि मौन थी, और मौन हो गई। उस शून्य संगीत ने हम दोनों को घेर लिया। वह अब मुझे अपरिचित नहीं था। उसमें भी मैं ही था। फिर उसकी पाषाण-जैसी जड़ता टूटी और उसके आँसुओं ने खबर दी कि वह पिघल रहा है। वह रो रहा था और उसका सारा शरीर कंपित हो रहा था। उसके हृदय में जो हो रहा था, उसकी तरंगें उसके शरीर तंतुओं तक आ रही थीं। वह रोता रहा······रोता रहा···रोता रहा और फिर बोला : "मैं मरना चाहता हूँ। मैं अत्यन्त निर्धन और निराश हूँ। मेरे पास कुछ भी तो नहीं है ?"

मैं थोड़ी देर और चुप, रहा और फिर धीरे-धीरे मैंने उससे एक कहानी कही। मैंने कहा : "मित्र ! मुझे एक कथा स्मरण आती है। एक फकीर से किसी युवक ने जाकर कहा था : "परमात्मा ने सब कुछ मुझ से छीन लिया है। मृत्यु के अतिरिक्त मेरे लिए अब कोई मार्ग नहीं है।"

क्या वह युवक तुम ही तो नहीं हो ?

उस फकीर ने युवक से कहा था : "मैं तो तेरे पास छिपा हुआ एक बड़ा खजाना देख रहा हूँ ? क्या उसे बेचेगा ? उसे बेच दे तो तेरा सब काम बन जाय और परमात्मा की बदनामी भी बचे ?"

तुम वह युवक हो या नहीं ? पता नहीं। लेकिन फकीर मैं वही हूँ और लगता है कि कहानी फिर से दुहर रही है।

वह युवक हैरान हुआ था और शायद तुम भी हैरान हो रहे हो। उसने पूछा था : "खजाना ? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं है !"

इस पर फकीर हँसने लगा था और बोला था : "चलो, मेरे साथ बादशाह के पास चलो। बादशाह बड़ा समझदार है। छिपे खजानों पर उसकी सदा से ही गहरी नजर रही है। वह जरूर ही तुम्हारा खजाना खरीद लेगा। मैं पहले भी बहुत से छिपे खजानों के बेचनेवालों को उसके पास ले गया हूँ !"

वह युवक कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। उसके लिए तो फकीर की सारी बातचीत ही पहेली थी। लेकिन फिर भी वह उसके साथ बादशाह के महल की ओर चला। मार्ग में फकीर ने उससे कहा : "कुछ बातें पहले से तय

कर लेना आवश्यक है ताकि बादशाह के सामने कोई झंझट न हो। वह बादशाह ऐसा है कि जो चीज उसे पसंद हो, उसे फिर किसी भी मूल्य पर छोड़ता नहीं है। इसीलिए यह भी जान लेना जरूरी है कि तुम उस चीज को बेचने को राजी भी हो या नहीं ?"

वह युवक बोला : "कौन-सा खजाना ? कौन-सी चीजें ?"

फकीर ने कहा : "जैसे, तुम्हारी आँखें ? इनका क्या मूल्य लोगे ? मैं ५० हजार तक बादशाह से दिला सकता हूँ। क्या यह रकम पर्याप्त नहीं है ? या जैसे तुम्हारा हृदय या मस्तिष्क, इनके तो एक-एक लाख भी मिल सकते हैं !"

वह युवक हैरान हुआ और अब समझा कि फकीर पागल है। बोला : "क्या आप पागल हो गए हैं ? आँखें ? हृदय ? मस्तिष्क ? आप यह कह क्या रहे हैं ? मैं इन्हें तो किसी भी मूल्य पर नहीं बेच सकता। और मैं ही क्यों ? कोई भी नहीं बेच सकता है।"

फकीर हँसने लगा और बोला : "मैं पागल हूँ या तू ? जब तेरे पास इतनी बहुमूल्य चीजें हैं, जिन्हें तू लाखों में भी नहीं बेच सकता, तो झूठ-मूठ निर्धन क्यों बना हुआ है ? इनका उपयोग कर। जो खजाना उपयोग में नहीं आता, वह भरा हुआ भी खाली है, और जो उपयोग में आता है, वह खाली भी हो तो भर जाता है। परमात्मा खजाने देता है—अकूत खजाने देता है, लेकिन उन्हें खोजना और खोदना स्वयं ही पड़ता है। जीवन से बड़ी कोई संपदा नहीं है। जो उसमें ही संपदा नहीं देखता, वह संपदा को और कहाँ पा सकता है ?"

रात्रि आधी से ज्यादा बीत गई थी। मैं उठा और मैंने उस युवक से कहा : "जाओ और सो जाओ। सुबह एक दूसरे ही व्यक्ति की भाँति उठो। जीवन वैसा ही है, जैसा हम उसे बनाते हैं। वह मनुष्य की अपनी सृष्टि है। उसे हम मृत्यु भी बना सकते हैं, और अमृत भी। सब कुछ स्वयं के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर नहीं है। फिर मृत्यु तो अपने आप आ जायगी। उसे बुलावा देने की आवश्यकता नहीं है। बुलाओ अमृत को। पुकारो परमजीवन को। वह तो श्रम से, शक्ति से, संकल्प से और साधना से ही मिल सकता है।"

३

एक सम्राट् की बहुत कीर्ति थी। उसके दान के सुसमाचार चारों दिशाओं में परिव्याप्त हो गए थे। उसकी विनम्रता, उसके त्याग, उसकी सादगी, उसकी सरलता, सभी की प्रशंसा लोगों के मुँह पर थी; और परिणाम यह था कि उसके अहंकार का अंत नहीं था। परमात्मा से जितनी दूरी पर कोई मनुष्य हो सकता है, उतनी ही दूरी पर वह था। मनुष्य की दृष्टि में ऊपर उठना कितना आसान है, किंतु परमात्मा के निकट पहुँचना कितना कठिन है। जो मनुष्यों की दृष्टि में ऊपर उठने की आकांक्षी होता है, वह तो अनिवार्यतः परमात्मा की दृष्टि में नीचे गिर जाता है, क्योंकि जो उसके बाहर दीखता है, ठीक उसके विपरीत ही वह अंतस् में होता है। मनुष्य के चर्मचक्षु वहाँ तक प्रवेश नहीं कर पाते हैं, इससे ही वह आत्मवंचना में पड़ जाता है। लेकिन क्या उसकी स्वयं अंतर्दृष्टि भी वहाँ तक नहीं पहुँचती है? अंततः, मनुष्यों की आँखों में बननेवाली प्रतिछवि का कोई भी मूल्य नहीं है। मूल्य तो है उसी प्रतिछवि का जो स्वयं की अंतर्दृष्टि के समक्ष अनावरित होती है। व्यक्ति की वही मूर्ति और भी निम्नतर रूपों में परमात्मा के दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है। आत्यंतिक रूप से व्यक्ति जो स्वयं के समक्ष है, वही वह परमात्मा के समक्ष भी है।

उस सम्राट् का यश बढ़ता गया और आत्मा डूबती गई। कीर्ति फैलती गई और आत्मा सिकुड़ती गई। उसकी शाखाएँ फैल रही थीं और जड़ें निर्बल हो रही थीं।

उसका एक मित्र भी था। वह मित्र उस समय का कुबेर ही था। दूर-दूर से जैसे नदी-नाले सागर से आ मिलते हैं, वैसे ही धन की सरिताएँ उसकी तिजोरियों में आ गिरती थीं। वह अपने सम्राट् मित्र से बिलकुल ही विपरीत था। दान के नाम पर एक कानीकौड़ी भी उससे नहीं छूटती थी। उसकी बड़ी अपकीर्ति थी।

सम्राट् और धनपति, दोनों बूढ़े हुए। एक अभिमान से भरा था, दूसरा आत्मग्लानि से। अभिमान सुख दे रहा था, आत्मग्लानि प्राणों को छेदे डालती थी। जैसे-जैसे सम्राट् को मृत्यु निकट जान पड़ती थी, वह अपने अहंकार को

और तीव्रता से पकड़ रहा था। उसके पास तो सहारा था। लेकिन धनपति की आत्मग्लानि अंततः आत्मक्रांति बन गई। वह तो सहारा नहीं थी। उसे तो छोड़ना जरूरी था। लेकिन स्मरण रहे कि आत्मग्लानि भी अहंकार का ही उल्टा रूप है, और इसीलिए वह भी छूटती कठिनाई से ही है। अक्सर तो वह सीधी होकर स्वयं ही अहंकार बन जाती है। इसी कारण भोगी योगी हो जाते हैं और लोभी, दानी, क्रूर, करुणावान—लेकिन बुनियादी रूप से उनकी आत्माओं में कोई क्रांति कभी नहीं होती है।

वह धनपति एक सद्गुरु के पास गया। उसने वहाँ जाकर कहा : "मैं अशांत हूँ। मैं अग्नि में जल रहा हूँ। मुझे शांति चाहिए।"

सद्गुरु ने पूछा : "क्या इतना धन, वैभव, शक्ति-सामर्थ्य होने पर भी तुम्हें शांति नहीं मिली ?

उसने कहा : "नहीं। मैंने भलीभाँति अनुभव कर लिया, धन में शांति नहीं है।"

सद्गुरु ने तब कहा : "जाओ और अपना सर्वस्व उन्हें लुटा दो, जिनसे वह छीना गया है। फिर मेरे पास आओ। दीन और दरिद्र होकर आओ।"

धनपति ने वैसा ही किया। वह लौटा तो सद्गुरु ने पूछा : "अब ?"

उसने कहा : "अब आपके अतिरिक्त और कोई आश्रय नहीं है।"

लेकिन बड़ा अद्भुत था वह सदगुरु। कहें कि पागल ही था। उसने धक्के देकर उस दरिद्र धनपति को झोंपड़े के बाहर निकाल दिया और द्वार बंद कर लिये। अंधेरी रात्रि थी और बियावान जंगल था। उस जंगल में उस झोंपड़े के अतिरिक्त कोई आश्रय भी नहीं था।

धनपति ने सोचा था कि वह बहुत बड़ा कार्य करके लौट रहा है। लेकिन यह कैसा स्वागत—यह कैसा व्यवहार ?

धन का संग्रह व्यर्थ पाया था। लेकिन धन का त्याग भी व्यर्थ ही हो गया था।

वह उस रात्रि निराश्रय एक वृक्ष के नीचे सो रहा। उसका अब कोई न सहारा था, न साथी, न घर। न उसके पास संपदा थी, न शक्ति थी। न संग्रह था, न त्याग था। सुबह जागकर उसने पाया कि वह एक अनिर्वचनीय शांति में डूबा हुआ है। निराश्रय चित्त अनायास ही परमात्मा के आश्रय को पा लेता है।

वह भागा हुआ सद्गुरु के चरणों में गिरने को गया, लेकिन देखा कि स्वयं सद्गुरु ही उसके चरणों में गिर पड़ा है।

उस सद्गुरु ने उसे हृदय से लगाया और कहा--- "धन छोड़ना आसान है, त्याग छोड़ना कठिन है। किंतु जो त्याग का त्याग करता है, वही वस्तुतः धन भी छोड़ता है। संसार छोड़ना सरल है, पर गुरु छोड़ना कठिन है। लेकिन जो गुरु को भी छोड़ देता है, वही परमगुरु को पाता है। धन का हो आश्रय या त्याग का, आत्मग्लानि का हो आश्रय या अभिमान का, संसार का हो आश्रय या संन्यास का, वस्तुतः जहाँ आश्रय है, वहीं परमात्मा तक पहुँचने में अवरोध है। अन्याश्रय टूटते ही परम आश्रय उपलब्ध होता है। मैं धन में आश्रय खोजूं या धर्म में, जब तक मैं आश्रय खोजता हूँ, तब तक मैं अहंकार की रक्षा ही खोजता हूँ। आश्रय मात्र छोड़ते ही, निराश्रय और असुरक्षित होते ही, चित्त स्वयं की मूल सत्ता में निमज्जित हो हो जाता है। यही है शांति। यही है मोक्ष। यही है निर्वाण। क्या तुम्हें कुछ और भी पाना है ?"

वह व्यक्ति, जो न अब धनपति था, न दरिद्र था, बोला : "नहीं। पाने के ख्याल में ही भूल थी। उसके कारण ही खोया था। जो पाना है, वह पाया ही हुआ है। पाने की दौड़ में यही नित्य-प्राप्त खो गया था। शांति भी अब मुझे नहीं चाहिए। परमात्मा भी नहीं। मैं ही अब नहीं हूँ और जो है वही शांति है, वही परमात्मा है, वही मोक्ष है।"

४

मैं वृद्धों के एक मंडल में बैठा था। वे सभी अवकाश-प्राप्त व्यक्ति हैं और लोक-परलोक की एक से एक व्यर्थ चर्चा में संलग्न रहते हैं। वैसे वे कहते इसे धर्म-चर्चा ही हैं, और यह ठीक भी है। क्योंकि जिन्हें धर्मशास्त्र कहा जाता है, उनमें भी ऐसे ही ऊहापोह की भरमार है। कई बार विचार आता है कि इन तथाकथित धर्मशास्त्रों को कहीं अवकाश-प्राप्त वृद्धों ने ही तो नहीं सिरजा है!

धर्म यदि कुछ है तो स्वयं जीवन है, व्यर्थ की विचारणाओं से उसका क्या संबंध ?

धर्म यदि कुछ है तो आत्म-अनुभूति है, व्यर्थ के ऊहापोह से उसका क्या संबंध ?

लेकिन, शास्त्र तो बस शब्दों से भरे हैं और धार्मिक कहे जानेवाले मस्तिष्क आकाशों की स्वप्न-यात्रा करते रहते हैं। शास्त्र और सिद्धान्त उनके चित्त में धर्म के प्रवेश के लिए द्वार ही नहीं देते हैं।

धार्मिक चित्त क्या है ?

मैं तो सब भाँति शब्दों, सिद्धान्तों और विचारों से शून्य चेतना को ही धार्मिक कहता हूँ।

धार्मिक चित्त, काल्पनिक चित्त नहीं है। अपितु, उससे ज्यादा यथार्थवादी और सत्य की ठोस भूमि पर खड़ी हुई और कोई चेतना ही नहीं होती है।

मैं वृद्धों के विवाद को बड़े आनन्द से सुनता था कि तभी एक संन्यासी का भी आगमन हो गया था। वे इस पर विचार करते थे कि कितने-कितने जन्मों की कितनी-कितनी तपश्चर्या से मुक्ति उपलब्ध होती है। संन्यासी भी इस विवाद में कूद पड़े थे। निश्चय ही वे ज्यादा अधिकारी थे और इसीलिए उनकी आवाज भी सबसे ज्यादा तेज थी। शास्त्रों की दुहाइयाँ दी जा रही थीं और कोई भी किसी की सुनने या मानने को तैयार नहीं था। एक वृद्ध का कहना था कि सैंकड़ों जन्म के कठोर तप से मुक्ति प्राप्त होती है। दूसरे

का विचार था कि मुक्ति के लिए तप की या सैकड़ों जन्मों की कोई बात ही नहीं। वह तो प्रभु-कृपा से कभी भी मिल सकती है। तीसरे का कहना था कि चूंकि अमुक्ति भ्रम है, इसीलिए तप से उसे नष्ट करने का सवाल ही नहीं है। वह तो ज्ञान की एक झलक में उसी भाँति तिरोहित हो जाती है जैसे रज्जु में भासता सर्प विलीन हो जाता है।

फिर किसी ने मुझ से पूछा : "आप का क्या ख्याल है ?" मैं क्या कहता ? इसीलिए तो एक कोने में चुपचाप दबा बैठा था कि कहीं किसी की दृष्टि मुझ पर भी न पड़ जाय। शास्त्रों का मुझे कोई ज्ञान नहीं है। सौभाग्य से उस दिशा में जाने की भूल ही मैंने नहीं की। अतः पूछने पर भी मैं चुप ही रह गया। लेकिन थोड़ी ही देर बाद फिर किसी ने पूछा : "आप कुछ क्यों नहीं बोलते हैं ?" मैं बोलता भी तो क्या बोलता ? जहाँ इतने बोलनेवाले हों, वहाँ मैं अकेला ही तो सुननेवाला था। मैं फिर भी चुप ही रह गया। शायद मेरी यह चुप्पी ही बोलने लगी और उन सबका ध्यान अन्ततः मेरी ही ओर आ गया। शायद वे सब थक गए थे और विश्राम लेना चाहते थे।

मैं जब फँस ही गया था तो मुझे कुछ-न-कुछ तो कहना ही था। मैंने एक कहानी कही : "एक गाँव में ऐसी परम्परा थी कि जब भी किसी युवक का विवाह होता तो उसे या वरपक्ष को विवाह में कम-से-कम पाँच हजार रुपए खर्च करने पड़ते थे। वह गाँव बड़ा धनी था और इससे कम में वहाँ विवाह नहीं होते थे। उस गाँव के शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा था। उन शास्त्रों को तो कभी किसी ने नहीं पढ़ा था, लेकिन गाँव के पुरोहित का ऐसा कहना था। पुरोहित से विवाद कौन करता ? उसे तो अतीत की किसी मातृभाषा में लिखे सारे शास्त्र कंठस्थ थे। शास्त्र तो सदा से ही स्वतः प्रमाण रहे हैं। उनमें जो है, वही सत्य है। सत्य का और लक्षण ही क्या है ? शास्त्र में होना ही तो सत्य का लक्षण है ! लेकिन एक बार ऐसा हुआ कि एक युवक ने केवल पाँच सौ रुपयों में ही विवाह कर डाला और उसकी बहू भी आ गई। निश्चय ही वह युवक कुछ विद्रोही रहा होगा, अन्यथा ऐसा कैसे कर सकता था। गाँव के लोगों ने उससे पूछा : "तूने कितने रुपए खर्च किए ?" वह बोला : "पाँच सौ।" फिर तो गाँव की पंचायत बैठी और पंचों ने उससे कहा : "गलत है। बिना पाँच हजार खर्च किए तो विवाह हो ही नहीं सकता।" वह युवक हँसा और बोला : "पाँच सौ से विवाह हो सकता है या नहीं,

यह व्यर्थ बहस तुम करो। मुझ को तो वह मिल गई है और उसका सुख प्राप्त है।"

यह कहकर वह युवक अपने घर चल दिया था।

मैं भी उठा और उन वृद्धों से बोला : "पंचो, नमस्कार। आप बहस जारी रखें, मैं भी अब चलता हूँ।"

५

मनुष्य अकेला है, अंधकार में है, असहाय है, असुरक्षित और भयभीत है। यही उसकी चिंता है। इससे मुक्ति का उपाय ही धर्म है।

धर्म मूलतः अभय में प्रतिष्ठा का मार्ग है।

लेकिन धर्म के नाम पर जो धर्म हैं, वे अभय से ही सर्वाधिक भयभीत रहते हैं। उनका स्वयं का आधार और प्राण ही मनुष्य-मन का भय है। भय ही उनका पोषण और जीवन है। अभय का तो अर्थ ही है, उनकी मृत्यु। मनुष्य के भय का बहुत शोषण हुआ है। इस शोषण में धर्म पीछे नहीं रहे हैं। शायद, वे ही अग्रणी हैं! भय के सहारे ही भूतप्रेत जीते हैं, भय के सहारे ही धर्मों के भगवान भी। भय के सहारे खड़े भूत-प्रेतों ने तो मनुष्य को डराया ही है। फिर भी यह कार्य उनके मनोविनोद की क्रीड़ा से ज्यादा नहीं रहा। लेकिन भय के भगवानों ने तो मनुष्य को मार ही डाला है। उनकी लीला बहुत महँगी पड़ी है। जीवन भयों के जाल में फँस गया है, और जहाँ भय ही भय है, वहाँ आनन्द कहाँ? प्रेम कहाँ? शान्ति कहाँ? सत्य कहाँ? आनन्द तो अभय की स्फुरणा है। भय मृत्यु है। अभय अमृत है।

भय पर भूत-प्रेत जियें, यह तो समझ में आता है, लेकिन भय पर ही भगवान का भी जीना बहुत अशोभन है।

और फिर जब भगवान ही भय पर जियें, तब तो भय के भूत-प्रेतों से मुक्ति का कोई उपाय ही नहीं है!

मैं कहता हूँ: भगवान का भय से कोई सम्बन्ध नहीं है। निश्चय ही भगवान की आड़ में इस भय का शोषण कोई और ही कर रहा है।

धर्म धार्मिकों के हाथ में नहीं है। कहते हैं कि जब भी सत्य का कोई आविष्कार होता है तो शैतान सबसे पहले उस पर कब्जा कर लेता है। धर्म का आविष्कार जिन आत्माओं में होता है, और धर्म का व्यवसाय जो करते हैं, उनमें भिन्नता ही नहीं, आधारभूत विरोध है। धर्म सदा से ही स्वयं के शत्रुओं के हाथ में है। यदि इस तथ्य को समय रहते नहीं समझा गया तो मनुष्य का भविष्य सुन्दर और स्वागतयोग्य नहीं हो सकता है।

धर्म को अधार्मिकों से नहीं, तथाकथित धार्मिकों से ही बचाना है और निश्चय ही यह कार्य ज्यादा कठिन और कष्टसाध्य है।

धर्म जब तक भय पर आधारित है, तब तक वह वस्तुतः धर्म नहीं बन सकता है। परमात्मा का आधार प्रेम है। भय के भगवान की नहीं, मनुष्य को प्रेम के परमात्मा की आवश्यकता है।

प्रेम के अतिरिक्त परमात्मा का और कोई पथ नहीं है। भय तो न केवल गलत है, बल्कि घातक है। क्योंकि जहाँ भय है, वहाँ घृणा है। जहाँ भय है, वहाँ प्रेम असंभव है।

धर्म ने भय पर ही जीना चाहा, इसीलिए ही उसका मन्दिर धीरे-धीरे खंडहर होता गया है। मंदिर तो प्रेम के होते हैं। भय के मंदिर तो असंभव हैं। भय के मंदिर नहीं, कारागृह ही होते हैं और हो सकते हैं।

मैं पूछता हूँ : क्या धर्मों के मंदिर, मंदिर हैं या कारागृह ?

धर्म यदि भय है तो मंदिर कारागृह होंगे ही। धर्म यदि भय है तो स्वयं परमात्मा भी कारागृहों के परमाधिकारी से ज्यादा कैसे हो सकता है ?

धर्म क्या है ? भय ? पाप का, दण्ड का, नर्क का ? या फिर प्रलोभन ? पुण्य का, पुरस्कार का, स्वर्ग का ?

नहीं। न धर्म भय है, न प्रलोभन। प्रलोभन तो भय का ही विस्तार है।

धर्म है अभय।

धर्म है समस्त भयों से मुक्ति।

एक पुरानी घटना है। किसी नगरी में दो भाई रहते थे। उसी नगरी में सर्वाधिक धन उन्हीं के पास था। शायद नगरी का नाम था, अंधेर नगरी! बड़ा भाई बड़ा धार्मिक था। रोज नियमित मंदिर जाता था। दान-पुण्य करता था। कथा-वार्ता सुनता था। साधु-संतों का सत्संग करता था। उसके कारण भवन में प्रतिदिन ही महात्माओं की भीड़ जुड़ी रहती थी। इस लोक में साधु-संतों की सेवा से वह परलोक में स्वर्ग का अधिकारी बन गया था। ऐसा वे साधु-संत उसे समझाते थे। शास्त्रों में भी ऐसा ही लिखा है, क्योंकि वे शास्त्र भी उन्हीं साधु-संतों के गिरोह ने बनाए हैं। वह एक ओर धन का शोषण करता था और दूसरी ओर दान-पुण्य करता। दान-पुण्य के बिना स्वर्ग नहीं है। धन के बिना दान-पुण्य नहीं है। शोषण के बिना धन नहीं है। अधर्म से धन होता है और फिर धन से धर्म होता है!

वह दूसरों का शोषण करता था। साधु-संत उसका शोषण करते थे और शोषकों-शोषकों में तो सदा से ही मैत्री रही है! लेकिन उसे अपने छोटे भाई पर सदा ही बहुत दया आती थी। वह धन जुटाने में कुशल नहीं था, और परिणामतः धर्म जुटाने में भी असफल हुआ जाता था। उसका प्रेम और सत्य का व्यवहार ही उसके और परमात्मा के आड़े आ रहा था! फिर न वह मन्दिर ही जाता था और न धर्म-शास्त्रों का क, ख, ग, ही जानता था। उसकी स्थिति निश्चित ही दयनीय थी और परलोक में उसका खाता खाली पड़ा था। साधु-संतों से भी वह ऐसे बचता था, जैसे लोग छूतही बीमारियों से बचते हैं। महात्मागण घर में एक द्वार से आते तो वह दूसरे द्वार से बाहर हो जाता था। उसका धार्मिक भाई अनेक महात्माओं से अपने अधार्मिक भाई के हृदय-परिवर्तन के लिए प्रार्थना करता था। लेकिन जब वह महात्माओं के सान्निध्य में रुके तभी तो परिवर्तन हो। वह तो रुकता ही नहीं था। लेकिन एक दिन एक पूरे और असली महात्मा आ पहुँचे। उन्होंने न मालूम कितने अधार्मिकों को धार्मिक बना दिया था। साम, दाम, दण्ड, भेद, सभी में वे कुशल थे। लोगों को धार्मिक बनाना ही उनका धंधा था। ऐसे ही महात्माओं पर तो धर्म की आधारशिलाएँ टिकी हैं। नहीं तो धर्म तो कभी का ही मिट-मिटा गया होता। उनसे भी जब बड़े भाई ने अपनी प्रार्थना दुहराई तो वे बोले: "घबड़ाओ मत। उस मूर्ख की अब शामत आ गई है। मैं उससे प्रभु-स्मरण कराके ही रहूँगा। मैं जो कहता हूँ, उसे सदा पूरा करता हूँ।" यह कहकर उन्होंने अपना डंडा उठाया और बड़े भाई के साथ हो लिये। पहले वे एक पहलवान थे। फिर महात्मागिरी को पहलवानी से भी अच्छा धंधा समझ महात्मा हो गए थे। उन्होंने आते ही छोटे भाई को पकड़ लिया। न केवल पकड़ा ही, बल्कि गिराकर उसकी छाती पर सवार हो गए। वह युवक कुछ समझ ही न पाया। हैरानी से वह अवाक् ही रह गया। फिर भी उसने कहा: "महानुभाव! यह क्या करते हैं?" महात्मा ने कहा: "हृदय-परिवर्तन।" वह युवक हँसा और बोला: "छोड़िए। यह भी हृदय-परिवर्तन की कोई राह है? देखिए, कहीं आपकी देह को कुछ चोट न लग जाय?" महात्मा बोले: "हम देह को माननेवाले नहीं। हम तो ब्रह्म को मानते हैं। 'राम' कहो, तभी छोड़ेंगे। नहीं तो हम से बुरा कोई भी नहीं है।" महात्मा बड़े दयालु थे, सो उस युवक के हित के लिए मारने-पीटने को

तैयार हो गए। उस युवक ने कहा : "भय से भगवान का क्या सम्बन्ध ? और भगवान का क्या कोई नाम है ? और, नाम भी हो तो प्रभुमय जीवन चाहिए या उसका स्मरण ? ऐसे तो मैं "राम" नहीं बोलूंगा। चाहे जीवन रहे या जाय।" और फिर उसने महात्मा को धक्का दे नीचे गिरा दिया। गिरकर महात्मा बोले : "वाह, वाह ! बोल दिया। 'मैं राम नहीं बोलूंगा,' यह भी राम बोलना ही है।" उसका भाई महात्मा के गिराए जाने से छोटे भाई पर बहुत नाराज हुआ, लेकिन महात्मा से वह बहुत प्रसन्न था। नास्तिक भाई से उसने प्रभु-स्मरण जो करा दिया था ! राम-नाम की महिमा तो अपार है। उसे तो एक बार भूल से बोलने से भी मनुष्य भवसागर से तर जाता है ! उस दिन उसने नगर-भोज दिया। उसका छोटा भाई धार्मिक जो हो गया था !

६

एक परमात्मा को माननेवालों ने दूसरे परमात्मा की मूर्तियाँ तोड़ दी हैं। वैसे यह कोई नई बात नहीं है। सदा से ही ऐसा होता रहा है। मनुष्य ही एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी नहीं है, उनके परमात्मा भी हैं। असल में मनुष्य जिन परमात्माओं का सृजन करता है, वे स्वयं उससे बहुत भिन्न नहीं हो सकते हैं। एक मंदिर दूसरे मंदिर के विरोध में खड़ा है, क्योंकि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के विरोध में है। एक शास्त्र दूसरे शास्त्र का शत्रु है, क्योंकि मनुष्य मनुष्य का शत्रु है। मनुष्य जैसा होता है, वैसा ही उसका धर्म होता है। मनुष्य मैत्री लाने के बजाय शत्रुता के गढ़ बन गए हैं और जगत को प्रेम से भरने के बजाय उन्होंने वैर-वैमनस्य के विष से भर दिया है।

मैं मूर्तियाँ टूटने की खबर सुनकर लौटा ही था कि जिनकी मूर्तियाँ तोड़ी गई थीं, उनमें से कुछ व्यक्ति मेरे पास आए। वे बड़े सात्विक क्रोध से भरे हुए थे! हालाँकि कोई क्रोध सात्विक नहीं होता है। फिर भी उन्होंने कहा कि उनका क्रोध सात्विक है! और वे जब तक विरोधियों के मंदिरों को नष्ट नहीं कर देंगे, तब तक चैन नहीं लेंगे। सवाल धर्म की रक्षा का है।

मैं हँसने लगा तो वे हैरान हुए। निश्चय ही यह समय हँसने का नहीं था। वे बहुत गंभीर थे और उनकी दृष्टि में इससे ज्यादा गंभीर क्या बात हो सकती थी कि धर्म पर खतरा था!

मैंने उन मित्रों से पूछा : "क्या आप शैतान की भाषा समझते हैं?"

एक ने पूछा : "यह कौन-सी भाषा है?"

शास्त्रों की भाषा तो वे समझते थे, लेकिन शैतान की भाषा नहीं समझते थे। हालाँकि शैतान की भाषा को समझे बिना स्वयं शास्त्र ही शैतान के शास्त्र बन जाते हैं!

मैंने उनसे एक कहानी कही :

एक नाव दूर-देश जा रही थी। और यात्रियों के साथ उसमें एक दरिद्र फकीर भी था। कुछ शरारती व्यक्ति उस फकीर को सब भाँति परेशान कर रहे थे। वह जब परमात्मा की रात्रिकालीन प्रार्थना में बैठा था तो यह सोचकर

कि अब तो वह कुछ भी नहीं कर सकेगा, उन्होंने उसके सिर पर जूते लगाने शुरू कर दिए। वह तो प्रार्थना में था और उसकी आँखों से प्रेम के आँसू बह रहे थे। तभी आकाशवाणी हुई : "मेरे प्यारे ! तू कहे तो नाव उलट दूँ।" वे व्यक्ति घबड़ा गए। और यात्री भी घबड़ा गए। मनोविनोद तो महँगा पड़ रहा था। वे सब उस फकीर के पैरों पर गिर क्षमा माँगने लगे। फकीर की प्रार्थना पूरी हुई तो वह उठा और उन लोगों से बोला : "घबड़ाओ मत।" फिर उसने आकाश की ओर मुँह उठाया और कहा : "मेरे प्यारे प्रभु ! यह तू कैसी शैतान की भाषा में बोल रहा है ? तू कुछ उलटने की ही लीला करना चाहता है, तो इनकी बुद्धि उलट दे। नाव उलटने से क्या होगा ?" फिर आकाश-घोषणा हुई : मैं बहुत खुश हूँ। तूने ठीक पहचाना। वह वाणी मेरी नहीं थी। जो शैतान की भाषा पहचान लेता है, वही फिर मेरी भाषा पहचान सकता है।"

७

सत्य की खोज में सर्वाधिक आवश्यक क्या है ?

मैं कहता हूँ : साहस—स्वयं के यथार्थ को जानने का साहस। मैं जैसा हूँ, वैसा ही स्वयं को जानना सर्वाधिक आवश्यक है। वह बहुत कठिन है। लेकिन उसके बिना सत्य में कोई गति भी संभव नहीं है। स्वयं को निर्वस्त्र और नग्न जानने से ज्यादा बड़ा तप और क्या है ? लेकिन, सत्य की उपलब्धि के लिए वही मूल्य चुकाना होता है। उससे ही व्यक्ति की सत्य के प्रति अभीप्सा की घोषणा होती है। स्वयं के प्रति सच्चाई ही तो सत्य के प्रति प्यास की प्रगाढ़ता की अभिव्यक्ति है। असत्य के तट से जो स्वयं को बाँधे हुए है, वह अपनी नौका सत्य के सागर में कैसे ले जा सकेगा ? असत्य के तट को तो छोड़ना ही होगा। वह तट ही तो सत्य की यात्रा के लिए बाधा है। वह तट ही तो बंधन है। निश्चय ही उस तट में सुरक्षा है। सुरक्षा की अति चाह ही तो असत्य का गढ़ है। सत्य की यात्रा में सुरक्षा का [illegible] नहीं, वरन् अज्ञात को जानने का अदम्य साहस चाहिए। असुरक्षित होने [illegible]समें साहस नहीं

कि मैं किससे जन्मा हूँ। मेरी माँ का नाम जाबाली है। इसलिए, मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। ऐसा ही आपसे बताने को उसने मुझे कहा है।"

हरिद्रुमत इस सरल सत्य से अभिभूत हो उठे। उन्होंने उस किशोर को हृदय से लगा लिया और बोले: "मेरे प्रिय ! तू निश्चय ही ब्राह्मण है। सत्य के लिए ऐसी आस्था ही ब्राह्मण का लक्षण है। तू ब्रह्म को जरूर पा सकेगा, क्योंकि जिसमें स्वयं के प्रति सच्चा होने का साहस है, सत्य स्वयं ही उसे खोजता हुआ उसके द्वार आ जाता है।"

८

मैं महत्त्वाकांक्षा की धुरी पर घूम रहे जीवन-वृत्त को ही नर्क कहता हूँ। महत्त्वाकांक्षाओं का ज्वर ही जीवन को विषाक्त करता है। मनुष्य जिन बड़ी-से-बड़ी रुग्णताओं और विक्षिप्तताओं से परिचित है, महत्त्वाकांक्षा से बड़ी बीमारी उनमें से कोई भी नहीं हैं। क्योंकि जो चित्त महत्त्वाकांक्षाओं की हवाओं से उद्वेलित है, शांति, संगीत और आनन्द उसके भाग्य में नहीं हो सकता है। वह स्वयं में ही नहीं होता है और शांति, संगीत और आनन्द तो स्वयं में होने के ही फल हैं। जो स्वयं में नहीं है, वही अस्वस्थ है। स्वयं में होना ही तो स्वस्थ होना है।

एक युवती पूछती थी : "इस महत्त्वाकांक्षा का मूल क्या है ?"

मैंने कहा : "हीनता का भाव। अभाव का बोध।"

निश्चय ही हीनता का भाव और महत्त्वाकांक्षी-चेतना विरोधी दिखाई पड़ते हैं। लेकिन क्या वे वस्तुतः विरोधी हैं ? नहीं, वे विरोधी नहीं हैं, वरन् एक ही भावदशा के दो छोर हैं। एक छोर से जो हीनता है, वही दूसरे छोर से महत्त्वाकांक्षा है। हीनता ही स्वयं से मुक्त होने के प्रयास में महत्त्वाकांक्षा बन जाती है। वह सुसज्जित हीनता ही है। लेकिन बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्त्रों के पहन लेने से भी न तो वह मिटती ही है और न नष्ट ही होती है। यह हो भी सकता है कि वह औरों की दृष्टि से छिप जाय, लेकिन स्वयं को तो निरंतर ही उसके दर्शन होते रहते हैं। वस्त्रों में छिपकर व्यक्ति अन्यों के लिए तो नग्न नहीं रह जाता है, लेकिन स्वयं के समक्ष तो उसकी नग्नता पूर्ववत् ही होती है। यही तो कारण है कि दूसरों की आँखों में जिनकी महत्त्वाकांक्षा की सफलताएँ चकाचौंध पैदा कर देती हैं, फिर भी वे स्वयं अपने भीतर और बड़ी सफलताओं की योजनाओं में ही चिंताग्रस्त बने रहते हैं। उनकी हीनता का आंतरिक भाव किसी भी सफलता से नष्ट नहीं होता है। हर नई सफलता उन्हें और आगे की सफलताओं की चुनौती बनकर ही आती है। इस भाँति जिन सफलताओं को उन्होंने समाधान जाना था, वे और नई समस्याओं की जन्मदात्री-मात्र ही सिद्ध होती हैं। जब भी किसी जीवन-समस्या को गलत ढंग से पकड़ा जाता

है, तो परिणाम यही होता है। समस्या के समाधान समस्या से भी बड़ी समस्याएँ बनकर आते हैं।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी भी रोग को ढाँकने से कभी भी कोई छुटकारा नहीं है। इस भाँति रोग मिटते नहीं, बल्कि और पुष्ट ही होते हैं। हीनभाव-ग्रंथि से पीड़ित चित्त उसे ढाँकने और भूलने के प्रयास में ही महत्त्वाकांक्षा से भर जाता है। महत्त्वाकांक्षा की त्वरा में स्वयं को विस्मरण करना आसान भी है। फिर चाहे यह महत्त्वाकांक्षा संसार की हो, या मोक्ष की, इससे कोई भेद नहीं पड़ता है। महत्त्वाकांक्षा मादक है। उसका नशा गहरी आत्मविस्मृति लाता है। लेकिन व्यक्ति जिस नशे का या नशे की जिस मात्रा का आदी हो जाता है फिर उससे मादकता नहीं आती है। इसलिए चित्त को नशों की ज्यादा से ज्यादा मात्राएँ चाहिए और नए-नए नशे चाहिए। इसलिए महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ती ही जाती हैं। उनका कोई अंत ही नहीं आता है। उनका अथ तो है, पर इति नहीं है। और जब सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं से व्यक्ति ऊब जाता है, या उसकी मौत निकट आने लगती है तो फिर तथा-कथित धार्मिक महत्त्वाकांक्षाएँ शुरू होती हैं। वे और भी इन्द्रजालिक हैं। उनका नशा और भी गहरा है, क्योंकि प्रत्यक्ष में उनकी उपलब्धि न होने से उनके अंग-भंग होने का भय भी नहीं होता है।

व्यक्ति जब तक स्वयं की वास्तविकता से अन्य होना चाहता है, तब तक वह किसी-न-किसी रूप में महत्त्वाकांक्षा के ज्वर से ही ग्रस्त होता है। स्वयं से अन्य होने की आकांक्षा में वह स्वयं जैसा है, उसे ढाँकता है और भूलता है। लेकिन क्या किसी तथ्य का ढँक जाना और उससे मुक्त हो जाना एक ही बात है? क्या किसी तथ्य की विस्मृति और उसका विसर्जन एक ही बात है? नहीं, हीनता की विस्मृति, हीनता से मुक्ति नहीं है। यह तो अत्यन्त अबुद्धिपूर्ण प्रति-क्रिया है। इसीलिए तो ज्यों-ज्यों दवा की जाती है, त्यों-त्यों मर्ज बढ़ता ही जाता है। महत्त्वाकांक्षी-चित्त की प्रत्येक सफलता आत्मघाती है, क्योंकि वह महत्त्वाकांक्षा की अग्नि में घृत का ही काम करती है। सफलता तो आ जाती है, लेकिन हीनता नहीं मिटती, इसीलिए और बड़ी सफलताएँ आवश्यक और अपरिहार्य हो उठती हैं। मूलतः यह तो हीनता का ही बढ़ता जाना है।

मनुष्य का समग्र इतिहास ऐसे ही रुग्ण-चित्त अस्वस्थ लोगों से भरा पड़ा है। तैमूरलंग, सिकन्दर या हिटलर और क्या हैं? कृपा करके उन बेचारों पर

हँसे नहीं, क्योंकि बीमारों पर हँसना शिष्टता नहीं है ! फिर इस कारण से भी हँसना अनुचित है, क्योंकि उनकी बीमारियों के कीटाणु हम सबके भी भीतर मौजूद हैं। हम भी उनके ही वसीयतदार हैं। व्यक्ति नहीं, पूरी मनुष्य जाति ही महत्त्वाकांक्षा के रोग से ग्रसित है और इसीलिए तो वह महारोग हमारी दृष्टि में भी नहीं आता है। मेरी दृष्टि में तो मानसिक स्वास्थ्य का अनिवार्य लक्षण महत्त्वाकांक्षा-मुक्त जीवन ही है। महत्त्वाकांक्षा रुग्णता है और इसीलिए वह विध्वंशात्मक है। रोग तो सदा ही मृत्यु के अनुचर हैं ! महत्त्वाकांक्षा विध्वंश है, हिंसा है। वह रुग्णचित्त से निकली घृणा है, ईर्ष्या है। मनुष्य-मनुष्य के बीच संघातिक संघर्ष वही तो है। युद्ध वही तो है। मोक्ष तक की महत्त्वाकांक्षा विध्वंशक होती है। वह आत्महिंसा बन जाती है। वह स्वयं से ही शत्रुता बन जाती है। सांसारिक महत्त्वाकांक्षा औरों के प्रति हिंसक है। मोक्ष की महत्त्वाकांक्षा स्वयं के प्रति ही हिंसक है। जहाँ महत्त्वाकांक्षा है, वहाँ हिंसा है। यह दूसरी बात है कि वह बहिर्गामी हो या अंतर्गामी, पर हिंसा सदा ही, प्रत्येक स्थिति और रूप में विध्वंशक होती है। इसीलिए केवल वे चेतनाएँ ही सृजनात्मक हो सकती हैं, जो महत्त्वाकांक्षा से मुक्त होती हैं। सृजनात्मकता केवल स्वस्थ और शांत चित्त से ही स्फूर्त हो सकती है। स्वस्थ चित्त स्वयं में स्थित होता है, कुछ और होने की दौड़ उसमें नहीं होती है। कुछ और होने की दौड़ के धुएँ में व्यक्ति उसे नहीं जान पाता है, जो वह है। और स्वयं को न जानना ही वह मूल और केन्द्रीय अभाव है, जिससे सारी हीनताओं का आविर्भाव होता है।

आत्मज्ञान के अतिरिक्त अभाव से और कोई मुक्ति नहीं है। महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं, आत्मज्ञान ही अभाव से मुक्त करता है और उसके लिए चित्त से महत्त्वाकांक्षाओं की विदाई अत्यंत आवश्यक है।

तैमूर और बैजद के बीच हुई एक चर्चा मुझे याद आ गई है।

सुलतान बैजद युद्ध में हार गया था और विजेता तैमूर के समक्ष बंदी बनाकर लाया गया था। उसे देखकर अनायास ही तैमूर जोर से हँसने लगा था। इस पर अपमानित बैजद ने बड़े अभिमान से सर उठाकर कहा था : "जंग में फतह पाकर इतना गर्व मत करो तैमूर, याद रखो कि शिकस्त पर हँसनेवाला एक दिन खुद अपनी शिकस्त पर आँसू बहाता है !"

सुलतान बैजद काना था और तैमूर लंगड़ा। काने बैजद की बात सुनकर

लंगड़ा तैमूर और दुगनी तेजी से हँसने लगा और बोला : "मैं इतना बेवकूफ नहीं कि इस छोटी-सी जीत पर हँसूं ! मुझे तो अपनी और तुम्हारी स्थिति पर हँसी आ रही है ! देखो न, तुम काने और मैं लंगड़ा ! मैं तो यह सोचकर हँसा कि खुदावंद हम-तुम जैसे लंगड़ों-कानों को क्यों बादशाहतें देता है ?'

मैं कब्र में सोए तैमूर से कहना चाहता हूँ : "यह दोष खुदावंद का नहीं है। वस्तुत: लंगड़ों-कानों के अतिरिक्त और कोई बादशाहतें पाने को उत्सुक ही नहीं होता है।"

क्या यह सत्य नहीं है कि जिस दिन मनुष्य-चित्त स्वस्थ होगा, उस दिन बादशाहतें नहीं होंगी ? क्या यह सत्य नहीं है कि जो स्वस्थ हुए हैं, उनसे बादशाहतें सदा ही छूटती रही हैं ?

मनुष्य स्वयं में किसी भी भाँति की हीनता पाकर उससे पलायन करने लगता है। वह ठीक उसकी विपरीत दिशा में दौड़ने लगता है और यहीं भूल हो जाती है जब हीनताएँ बहुत गहरे में आंतरिक अभाव की सूचनाओं से ज्यादा नहीं हैं। प्रत्येक व्यक्ति ही आंतरिक अभाव में है। एक रिक्तता प्रत्येक को ही अनुभव होती है। इस आंतरिक रिक्तता को ही बाह्य उपलब्धियों से भरने की चेष्टा चलती है। लेकिन आंतरिक रिक्तता के गड्ढे को बाह्य से भरना कैसे संभव है ? क्योंकि जो बाह्य है वह इसी कारण तो आंतरिक को भरने में असमर्थ है। और सभी-कुछ तो बाह्य है : धन, पद, गुण, प्रभुता, धर्म, पुण्य, त्याग, ज्ञान, परमात्मा, मोक्ष। फिर आंतरिक क्या है ? उस अभाव, उस रिक्तता और शून्यता को छोड़कर और कुछ भी आंतरिक नहीं है। इससे उस शून्य से भागना स्वयं से ही भागना है। उससे पलायन स्वयं की सत्ता से ही पलायन है। उससे भागने में नहीं, वरन् उसमें जीने और जागने में ही कल्याण है। जो व्यक्ति उसमें जीने और जागने का साहस करता है, उसके समक्ष वह शून्य ही पूर्ण बन जाता है। उसके लिए वह रिक्तता ही परम मुक्ति सिद्ध होती है। उस न-कुछ में ही सब-कुछ है। उस शून्य में ही सत्ता है। वह सत्ता ही परमात्मा है।

१

मैं आप सबको जीवन के संबंध में सोच-विचार में पड़े देखकर बहुत हैरान होता हूँ। जीवन सोच-विचार से नहीं, वरन् उसकी समग्रता में उसे जीने से ही जाना जाता है। सत्य से परिचित होने का और कोई मार्ग ही नहीं है। जागो और जियो। जागो और चलो। सत्य कोई मृत वस्तु नहीं है कि उसे बैठे-बिठाए ही पाया जा सके। वह तो अत्यंत जीवन्त प्रवाह है। जीवन के साथ ही साथ जो सब भाँति मुक्त और निर्बन्ध हो बहता है, वही उसे पाता है। बहुत दूर के सोच-विचार में अक्सर ही निकट को खो दिया जाता है, जबकि निकट ही सत्य है और निकट में ही वह भी छिपा है जो दूर है। क्या दूर को पाने के लिए सर्वप्रथम निकट को ही पाना अनिवार्य नहीं है? क्या समस्त भविष्य वर्त्तमान के क्षण में ही उपस्थित नहीं है? क्या एक छोटे-से कदम में ही बड़ी से बड़ी मंजिल का भी आवास नहीं होता है?

एक सीधा-सादा किसान जीवन में पहली बार पहाड़ियों की यात्रा को जा रहा था। वे पहाड़ियाँ यद्यपि उसके गाँव से बहुत ज्यादा दूर नहीं थीं, फिर भी वह कभी उन तक नहीं जा सका था। उनकी हरियाली से ढँकी चोटियाँ उसे अपने खेतों से ही दिखाई पड़ती थीं। बहुत बार उसके मन में उन्हें निकट से जाकर देखने की आकांक्षा अत्यंत बलवती भी हो जाती थी। लेकिन कभी एक, तो कभी दूसरे कारण से बात टलती चली गई थी और वह वहाँ नहीं जा पाया था। पिछली बार तो वह इसलिए ही रुक गया था, क्योंकि उसके पास कंडील * नहीं थी और पहाड़ियों पर जाने के लिए आधी रात के अँधेरे में ही निकल जाना आवश्यक था। सूर्य निकल आने पर तो पहाड़ की कठिन चढ़ाई और भी कठिन हो जाती थी। एक दिन वह कंडील भी ले आया और पहाड़ों पर जाने की खुशी में रातभर सो भी नहीं सका। रात्रि दो बजे ही वह उठ गया और पहाड़ियों के लिए निकल पड़ा। लेकिन गाँव के बाहर आकर ही वह ठिठककर रुक गया। उसके मन में एक चिन्ता और दुविधा पैदा हो गई। उसने गाँव के बाहर आते ही देखा कि अमावस की

*अबरक या कागज की बनी हुई लालटेन

रात्रि का घुप्प अंधकार है। निश्चय ही उसके पास कंडील थी, लेकिन उसका प्रकाश तो दस कदमों से ज्यादा नहीं पड़ता था और चढ़ाई थी दस मील की ! वह सोचने लगा कि जाना है दस मील और रोशनी है केवल दस कदम पड़नेवाली, तो कैसे पूरा पड़ेगा ? ऐसे घुप्प अंधकार में इतनी-सी कंडील के प्रकाश को लेकर जाना क्या उचित है ? यह तो सागर में जरा-सी डोंगी लेकर उतरने-जैसा ही है। वह गाँव के बाहर ही बैठा रहा और सूर्य के निकलने की बाट जोहने लगा। तभी उसने देखा कि एक बूढ़ा आदमी उसके पास से ही पहाड़ियों की तरफ जा रहा है और उसके हाथ में तो और भी छोटी कंडील है। उसने वृद्ध को रोककर जब अपनी दुविधा बताई तो वृद्ध खूब हँसने लगा और बोला : "पागल ! तू पहले दस कदम तो चल। जितना दीखता है, उतना तो आगे बढ़। फिर इतना ही और आगे दीखने लगेगा। एक कदम दीखता हो तो उसके सहारे तो सारी भूमि की ही परिक्रमा की जा सकती है !" वह युवक समझा, उठा और चला और सूर्य निकलने के पूर्व ही वह पहाड़ियों पर था।

जीवन के मार्ग पर भी उस बूढ़े की सीख याद रखने योग्य है।

मैं भी यही आपसे कहना चाहता हूँ।

मित्रो ! बैठे क्यों हो ? उठो और चलो। जो सोचता है, वह नहीं; जो चलता है बस केवल वही पहुँचता है। स्मरण रहे कि इतना विवेक, इतना प्रकाश प्रत्येक के पास है कि उससे कम से कम दस कदम का फासला दिखाई पड़ सके और उतना ही पर्याप्त भी है। परमात्मा तक पहुँचने के लिए भी उतना ही पर्याप्त है।

१०

प्रेम शक्ति है, और जो प्रेम से जीतता है, वही वस्तुतः जीतता है।

प्रेम जहाँ है, वहाँ परमात्मा है, क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है।

स्मरण रहे कि जब भी तुम्हारा मन क्रोध से भरता है, घृणा से भरता है, तभी तुम अशक्त हो जाते हो और परमात्मा से तुम्हारे संबंध क्षीण हो जाते हैं।

इसीलिए ही तो क्रोध में, घृणा में, द्वेष में दुख और संताप पैदा होते हैं, संताप की मनोदशा सर्व की सत्ता से स्वयं की जड़ों के पृथक होने से पैदा होती है।

प्रेम आनन्द से भर देता है, शांति संगीत से और करुणा ऐसी सुगन्धियों से जो इस पृथ्वी की नहीं हैं।

क्यों ?

क्योंकि, उनमें होकर तुम सर्वात्मा के निकट हो जाते हो, क्योंकि उनमें होकर तुम परमात्मा के हृदय में स्थान पा जाते हो, क्योंकि उनमें होकर तुम तुम नहीं रहते, वरन् परमात्मा ही तुमसे प्रकट होने लगता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन में जो अखंड और अटूट प्रेम को पा लेता है, वह सब पा लेता है।

एक घटना मुझे स्मरण आती है। मुहम्मद अपने शिष्य अली के साथ किसी मार्ग से गुजर रहे थे। अली के एक शत्रु ने आकर उसे रोक लिया और उसका अपमान करने लगा। अली ने शांति से उसके दुर्वचन सुने। उसकी आँखों में प्रेम और प्रार्थना मालूम होती थी। वह शत्रु की विषाक्त बातों को ऐसा सुनता रहा जैसे वह उसकी प्रशंसा करता हो। उसका धैर्य अद्भुत था, लेकिन अंततः उसने भी धैर्य खो दिया और वह शत्रु के तल पर नीचे उतर आया और ईंट का जवाब पत्थर से देने लगा। धीरे-धीरे उसकी आँखें क्रोध से भर गईं और उसके हृदय में घृणा और प्रतिशोध के बादल गरजने लगे। उसका हाथ तलवार पर जा चुका था। मुहम्मद अब तक शांति से बैठे सब देख रहे

थे। अचानक वे उठे और अली तथा उसके शत्रु को वहीं छोड़कर एक ओर चले गए। इससे अली को बहुत आश्चर्य हुआ और मुहम्मद के प्रति मन में शिकायत भी आई। बाद में जब मुहम्मद मिले तो उसने उनसे कहा : "आपका यह कैसा व्यवहार ? शत्रु मुझे रोके हुए था और आप मुझे बीच में छोड़कर चले आए! क्या यह मृत्यु के मुँह में ही छोड़ आने-जैसा नहीं है ?" मुहम्मद ने कहा : "प्यारे ! वह मनुष्य निश्चित ही बहुत हिंसक और क्रूर था और उसके वचन भी बहुत क्रोध से भरे हुए थे, लेकिन मैं तुझे शांत और प्रेम से भरा देखकर बहुत आनन्दित था। उस समय मैंने देखा कि परमात्मा के दस दूत तेरी रक्षा कर रहे थे और उनके शुभाशीषों की तेरे ऊपर वर्षा हो रही थी। प्रेम और क्षमा के कारण तू सुरक्षित था। लेकिन, जैसे तेरा हृदय करुणा को छोड़कर कठोर हुआ और तेरी आँखें प्रतिशोध की लपटें प्रकट करने लगीं, वैसे ही मैंने देखा कि वे देवदूत तुझे छोड़कर चले गए हैं। उस समय उचित ही था कि मैं भी वहाँ से हट जाऊँ। परमात्मा ने ही तेरा साथ छोड़ दिया था !"

११

मैं प्रत्येक से पूछता हूँ कि जीवन में तुम क्या सोच रहे हो ? जीवन की खोज में ही जीवन का अर्थ और मूल्य छिपा है।

कोई यदि कंकड़-पत्थर ही खोजता हो तो उसके जीवन का मूल्य उसकी खोज से ज्यादा कैसे होगा ?

किन्तु, अधिक व्यक्ति क्षुद्र की खोज में ही क्षुद्र हो जाते हैं और अंततः पाते हैं कि जीवन की संपदा उसने ऐसी संपदा को खोजने में गँवाई है, जो संपदा ही नहीं थी।

यह उचित है कि किसी भी यात्रा के पहले हम ठीक से जान लें कि हम कहाँ पहुँचना चाहते हैं और क्यों पहुँचना चाहते हैं, और यह भी कि क्या गन्तव्य यात्रा की कठिनाइयों और श्रम को झेलने योग्य भी है ?

जो विचार कर नहीं चलता, वह अक्सर पाता है कि या तो वह कहीं पहुँचता ही नहीं, या फिर कहीं पहुँच भी जाता है तो जहाँ पहुँच जाता है, उस स्थान को पहुँचने योग्य ही नहीं पाता।

मैं चाहता हूँ कि ऐसी भूल तुम्हारे जीवन में न हो, क्योंकि ऐसी भूल सारे जीवन को ही नष्ट कर देती है।

जीवन है छोटा। शक्ति है सीमित। समय है अल्प। इसीलिए, जो विचार से, सावधानी से और सजगता से चलते हैं, वे ही कहीं पहुँच पाते हैं।

एक फकीर था। नाम था उसका शिब्ली। किसी यात्रा पर था। मार्ग में एक युवक को कहीं तेजी से जाते हुए देखा तो उसने पूछा : "मित्र, कहाँ भागे जा रहे हो ?" उस युवक ने बिना ठहरे ही कहा : "अपने घर।" शिब्ली ने इस पर एक बड़ा अजीब-सा सवाल किया। पूछा : "कौन-सा घर ?"

मैं भी तुमसे यही पूछता हूँ। तुम भागे जा रहे हो। सभी भागे जा रहे हैं। मैं पूछता हूँ : "कहाँ भागे जा रहे हो ?"

यह सारी दौड़ कहीं अंधी तो नहीं है ?

कहीं ऐसा तो नहीं है कि सब भाग रहे हैं, इसलिए तुम भी भाग रहे हो बिना यह जाने कि कहाँ जाना है ?

काश, इसके उत्तर में तुम भी वही कह सको, जो उस युवक ने शिब्ली को कहा था, तो मेरे प्राण आनन्द से नाच उठेंगे !

उस युवक ने कहा था : "एक ही तो घर है। परमात्मा का घर। उसकी ही खोज में हूँ।"

निश्चय ही शेष सब स्वप्न है— शेष किसी भी घर की खोज स्वप्न है। घर तो एक ही है—वास्तविक घर तो एक ही है : परमात्मा का घर। जो उसे खोजना चाहता है, उसे स्वयं को ही खोजना पड़ता है, क्योंकि स्वयं में ही वह छिपा हुआ है।

क्या परमात्मा के अतिरिक्त कोई और घर भी है ?

और क्या स्वयं के अतिरिक्त परमात्मा को कहीं और भी पाया जा सकता है ?

मैं शिब्ली की जगह होता तो उस भागते युवक से एक सवाल और पूछता। पता नहीं वह क्या उत्तर देता, लेकिन सवाल तो मैं तुम्हें बता ही दूं।

मैं उससे कहता : "मित्र, परमात्मा को पाना है तो भाग क्यों रहे हो ? कहाँ भागे जा रहे हो ? जो यहीं है, उसे भागकर कैसे पाओगे ? जो इसी क्षण है, अभी है, उसे कभी भविष्य में पाने की कामना क्या भ्रांति नहीं ? और जो भीतर है, उसे भागकर खोया ही जा सकता है। उसे पाने के लिए क्या उचित नहीं है कि ठहरो और रुको और स्वयं में देखो ?"

१२

धर्म को मत खोजो। खोजो स्वयं को। धर्म तो फिर अपने आप मिल जाता है।

धर्म क्या शास्त्रों में है?

नहीं। धर्म शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र तो हैं मृत और धर्म है जीवन्त स्वरूप। वह शास्त्रों में कैसे हो सकता है?

धर्म क्या संप्रदायों में है?

नहीं। धर्म संप्रदायों में भी नहीं है। संप्रदाय हैं संगठन, और धर्म तो है निज की अत्यंत निजता। उसके लिए स्वयं के बाहर नहीं, भीतर चलना आवश्यक है।

धर्म स्वयं की स्वाँस-स्वाँस में है। बस उसे उघाड़ने की दृष्टि नहीं है।

धर्म स्वयं के रक्त की बूंद में है। बस उसे खोजने का साहस और संकल्प नहीं है।

धर्म तो सूर्य की भाँति स्पष्ट है, लेकिन आँखें तो खोलो?

· धर्म तो जीवन है, लेकिन शरीर की कब्रों से ऊपर तो उठो?

धर्म जड़ता नहीं है। इसलिए सोओ नहीं, जागो और चलो। जो सोता है, वह खोता है। जो चलता है, वह पहुँचता है। जो जागता है, वह पाता है।

एक राजा संसार के सर्वोच्च धर्म की खोज में था। वह युवा से बूढ़ा हो आया था, लेकिन उसकी खोज पूरी नहीं हो पाई थी। वह खोज पूरी होती भी कैसे? जीवन है अल्प और ऐसी खोज है मूढ़तापूर्ण। जीवन अनन्त हो तो भी सर्वोच्च धर्म नहीं खोजा जा सकता है, क्योंकि वस्तुतः धर्म तो बस धर्म है—वह तो एक ही है, इसीलिए वहाँ नीचा और ऊँचा, निकृष्ट और श्रेष्ठ क्या और कैसे हो सकता है? धर्म चूंकि बहुत नहीं हैं, इसीलिए सर्वोच्च की खोज भी सार्थक नहीं है। जहाँ अनेक नहीं हैं, एक ही है, वहाँ तुलना के लिए और तोलने के लिए न अवकाश ही है, न उपाय ही है। वह राजा खोजता तो सर्वोच्च धर्म था और जीता था निकृष्टतम अधर्म में। जब सत्य-धर्म ही नहीं मिल रहा था तो धर्म की दिशा में जीवन को ले जाने का प्रश्न ही नहीं था! अँधेरे और

अज्ञात में कहीं कोई जाता है? अधर्म के संबंध में तो कोई नहीं पूछता है, लेकिन धर्म के संबंध में मुश्किल से ही कभी कोई होता है जो यह न पूछता हो। अधर्म के संबंध में कोई विचार और खोज भी नहीं करता। उसे तो जिया जाता है और धर्म को खोजा जाता है। शायद यह तथाकथित खोज अधर्म में जीने और धर्म में जीने से बचने की ही विधि है!

उस राजा को यह कोई कहता भी नहीं था। अलग-अलग धर्मों के पंडित, साधु और दार्शनिक आते थे। वे एक दूसरे से लड़ते थे। एक दूसरे के दोष दिखलाते थे। एक दूसरे को भ्रांति और अज्ञान में सिद्ध करते थे। राजा इससे प्रसन्न ही होता था। इस भाँति उसके समक्ष धर्म ही भ्रांत और अज्ञान हो जाता था और अधर्म में जीने के लिए और सहारे मिल जाते थे। उस राजा को धर्म के पक्ष में जीतना कठिन था, क्योंकि जितने भी पक्ष थे, वे स्वयं ही धर्म के पक्ष में नहीं थे। पक्ष, पंथ और धार्मिक संप्रदाय स्वयं के पक्ष में होते हैं। धर्म से उनका कोई भी प्रयोजन नहीं होता, नहीं हो सकता है। जो सब पक्ष छोड़ता है, वही धर्म का हो सकता है। निष्पक्ष हुए बिना धार्मिक होना असंभव है। धर्म-संप्रदाय अंततः धर्म के शत्रु और अधर्म के मित्र सिद्ध होते हैं।

लेकिन राजा ने खोज बंद नहीं की। वह तो उसके लिए एक खेल ही बन गई थी। फिर अधर्म भी दुख, चिन्ता और पीड़ा लाने लगा। मृत्यु करीब आने लगी। जीवन की फसल काटने के दिन आ गए तो वह बहुत उद्विग्न हो उठा। लेकिन, सर्वोच्च और आत्यंतिक रूप से निर्दोष एवं पूर्ण धर्म के अतिरिक्त वह कुछ भी मानने को तैयार न था। वह बहुत हठी था और जबतक पूर्ण धर्म स्पष्ट न हो, तबतक जीवन का एक चरण भी उस ओर न रखने के लिए भी वह कटिबद्ध था। वर्ष पर वर्ष बीतते जाते थे, और वह अपने ही हाथों स्वयं को और कीचड़ में फँसाता जाता था। फिर तो अंततः उसकी मृत्यु भी निकट आ गई थी।

एक दिन एक युवा भिखारी उसके द्वार पर भीख माँगने आया। राजा को अत्यंत चिंतित, उदास और खिन्नमना देख उसने कारण पूछा। राजा ने उससे कहा: "जानकर भी तुम क्या करोगे? बड़े-बड़े पंडित, साधु और संत भी कुछ नहीं कर सके हैं?" वह भिखारी बोला: "हो सकता है, उनका बड़ा होना ही उनके लिए बाधा बन गया हो? फिर पंडित तो कभी भी कुछ नहीं कर सके हैं। वस्त्रों से पहचाने जानेवाले साधु और संत भी क्या साधु और संत होते

हैं ?" राजा ने उस भिखारी को गौर से देखा। उसकी आँखों में कुछ था जो भिखारी की नहीं, सम्राटों की ही आँखों में होता है। इसी बीच वह भिखारी पुनः बोला : "मैं तो कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। असल में मैं हूँ ही नहीं। लेकिन जो है, वह बहुत कुछ कर सकता है।" उसकी बातें निश्चित ही अद्‌भुत थीं। राजा के पास आए हजारों समझानेवालों से वह एकदम ही भिन्न था। राजा सोचने लगा कि ऐसे दीन-हीन वेश में यह कौन है ? फिर भी प्रकटतः उसने कहा : "मैं सर्वोच्च धर्म की खोज कर जीवन को धर्ममय बनाना चाहता था, लेकिन यह नहीं हो सका और फलतः अब अंत समय में मैं बहुत दुःखी हूँ। कौन-सा धर्म सर्वोच्च है ?" वह भिखारी खूब हँसने लगा और बोला : "राजन् ! आपने गाड़ी के पीछे बैल बाँधने चाहे, इससे ही आप दुखी हैं। धर्म की खोज से जीवन धर्म नहीं बनता, जीवन के धर्म बनने से ही धर्म की खोज होती है। और यह भी कैसा पागलपन, कि आपने सर्वोच्च धर्म खोजना चाहा ? अरे, धर्म की खोज ही काफी थी। सर्वोच्च धर्म ? यह तो मैंने कभी सुना नहीं। ये तो शब्द ही असंगत हैं। धर्म में फिर और कुछ जोड़ने को नहीं रह जाता है। वृत्त ही होता है, पूर्ण वृत्त नहीं। क्योंकि जो पूर्णवृत्त नहीं है, वह वृत्त ही नहीं है। वृत्त का होना ही उसकी पूर्णता भी है। धर्म का होना ही उसकी निरपेक्ष निर्दोष सत्यता भी है। और जो सर्वोच्च धर्म को सिद्ध करने आपके पास आते रहे, वे भी या तो आपसे कम पागल नहीं थे, या फिर पाखंडी थे। जो जानता है, वह धर्मों को नहीं, धर्म को ही जानता है।"

राजा ने विह्वल होकर उस भिखारी के पैर पकड़ लिये। उस भिखारी ने कहा : "मेरे पैर छोड़ें। मेरे पैरों को न बाँधें। मैं तो आपके भी पैरों को मुक्त करने आया हूँ। राजधानी के बाहर नदी के पार चलें। वहीं मैं धर्म की ओर इंगित कर सकता हूँ।" वे दोनों नदीतट पर गए। राजधानी की श्रेष्ठतम नावें बुलाई गईं। लेकिन वह भिखारी प्रत्येक नाव में कोई न कोई दोष बता देता था। अंततः राजा परेशान हो गया। उसने भिखारी से कहा : "महात्मन् ! हमें केवल एक छोटी-सी नदी पार करनी है। इसे तो तैरकर भी पार किया जा सकता है। छोड़ें इन नावों को और चलें, तैरकर ही पार चले चलें। व्यर्थ ही विलम्ब क्यों कर रहे हैं ?"

वह भिखारी जैसे इसकी ही प्रतीक्षा में था। उसने राजा से कहा : "राजन् ! यही तो मैं कहना चाहता हूँ। धर्म-पंथों की नावों के पीछे क्यों पड़े

हैं ? क्या उचित नहीं है कि परमात्मा की ओर स्वयं ही तैर चलें ? वस्तुतः धर्म की कोई नाव नहीं। नावों के नाम से सब मल्लाहों के व्यवसाय हैं। स्वयं तैरना ही एकमात्र मार्ग है। सत्य स्वयं ही पाया जाता है। कोई और उसे नहीं दे सकता। सत्य के सागर में स्वयं ही तैरना है। कोई और सहारा नहीं है। जो सहारे खोजते हैं वे तट पर ही डूब जाते हैं और जो स्वयं तैरने का साहस करते हैं, वे डूबकर भी पहुँच जाते हैं।"

१३

एक बालक ने मुझसे पूछा : "मैं बुद्ध-जैसा बनना चाहता हूँ। क्या आप मुझे मेरे आदर्श तक पहुँचने के लिए मार्ग-निर्देश कर सकेंगे ?"

उस बालक की उम्र बहुत थी। वह कम से कम साठ वसंत तो देख ही चुका था ! लेकिन जो दूसरों-जैसा बनना चाहता है, वह अभी बालक ही है और उसका मस्तिष्क परिपक्व नहीं हुआ है।

क्या व्यक्ति की प्रौढ़ता का लक्षण यही नहीं है कि वह किसी और जैसा नहीं, वरन् स्वयं जैसा ही बनना चाहे ? और यदि कोई अन्य जैसा बनना भी चाहे तो क्या वह बन सकता है ?

व्यक्ति बस स्वयं-जैसा ही हो सकता है। अन्य-जैसा होना असंभव है।

मैं उस वृद्ध को बालक कह रहा हूँ तो आप हँसते हैं। लेकिन यदि खोजेंगे तो हँसेंगे नहीं, रोएँगे, क्योंकि पाएँगे कि वह बाल-बुद्धि आप में भी मौजूद है। क्या आप भी किसी अन्य-जैसा नहीं होना चाहते हैं ? क्या स्वयं-जैसा होने का साहस और प्रौढ़ता आपके भीतर है ? यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रौढ़ हो तो किसी के भी अनुगमन का सवाल नहीं है। क्या बाल-बुद्धि के कारण ही अनुगमन अनुयायी, शिष्य और गुरु पैदा नहीं होते हैं ? और स्मरण रहे कि अनुगमन करनेवाली बुद्धि अप्रौढ़ तो होती ही है, अंधी भी होती है।

उस वृद्ध बालक को मैंने क्या कहा था ?

मैंने कहा था : "मित्र, जो किसी और जैसा बनना चाहता है, वह स्वयं को खो देता है। प्रत्येक बीज अपने वृक्ष को स्वयं में लिये हुए है, और ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति भी। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होने का मार्ग नहीं है। हाँ, अन्यथा होने की चेष्टा में यह जरूर हो सकता है कि व्यक्ति वह न हो पाये जो हो सकता था। उसे खोजो जो तुम हो, और उसी खोज में से उसका विकास होता है जो तुम हो सकते हो। इसके अतिरिक्त किसी के लिए कोई आदर्श नहीं है। आदर्शों के नाम पर व्यक्ति स्वयं के विकास-पथ से भटके हैं, कहीं पहुँचे नहीं। आदर्शों की आड़ में मुझे आत्महत्याएँ दिखाई पड़ती हैं, और आत्महत्याएँ ही तो होंगी। मैं जब भी किसी और जैसा होने

में लगूँगा, तो क्या करूँगा ? स्वयं को मारूँगा, स्वयं को दबाऊँगा, स्वयं से घृणा करूँगा। आत्म-हत्या होगी और होगा पाखंड। क्योंकि, जो मैं नहीं हूँ, वह होने का, वह दीखने का, उसे प्रदर्शित करने का अभिनय होगा। व्यक्तित्व में दुई पैदा हुई कि पाखंड आया। जहाँ व्यक्तित्व में स्व-विरोधी आरोपण है, वहीं असत्य है, वहीं अधर्म है। यह स्वाभाविक है कि ऐसी अस्वाभाविक चेष्टा दुख लाये, चिन्ता और संताप लाये। इस भाँति के तनावों की अति ही मनुष्य में नरक बन जाती है। स्वयं के सत्य और स्वयं की सम्भावनाओं के साक्षात् से ही जो आदर्श जन्मता है, और उसकी छाया की भाँति ही जो अनुशासन सहज आता है, उसके सिवा सभी कुछ व्यक्ति को कुरूप और अपंग करता है। बाहर से आए आदर्श और अनुशासन के चौखटे आत्महिंसा लाते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ : स्वयं को खोजो और स्वयं को पाओ। परमात्मा के द्वार पर केवल उन्हीं का स्वागत है जो स्वयं-जैसे हैं। उस द्वार से राम तो निकल सकते हैं, लेकिन रामलीला के राम का निकलना संभव नहीं है। और जब भी कोई बाह्य आदर्शों से अनुप्रेरित हो स्वयं को ढालता है, तो वह रामलीला का राम ही बन सकता है। यह दूसरी बात है कि कोई उसमें ज्यादा सफल हो जाता है, कोई कम ! लेकिन अंततः जो जितना ज्यादा सफल है, वह स्वयं से उतनी ही दूर निकल जाता है। रामलीला के रामों की सफलता वस्तुतः स्वयं की विफलता ही है। राम को, बुद्ध को या महावीर को ऊपर से नहीं ओढ़ा जा सकता। जो ओढ़ लेता है, उसके व्यक्तित्व में न संगीत होता है, न स्वतंत्रता, न सौंदर्य, न सत्य। परमात्मा उसके साथ वही व्यवहार करेगा, जो स्पार्टा के एक बादशाह ने उस व्यक्ति के साथ किया था जो बुलबुल-जैसी आवाजें निकालने में इतना कुशल हो गया था कि मनुष्य की बोली उसे भूल ही गई थी ! उस व्यक्ति की बड़ी ख्याति थी और लोग दूर-दूर से उसे देखने और सुनने जाते थे। वह अपने कौशल का प्रदर्शन बादशाह के सामने भी करना चाहता था। बड़ी कठिनाई से वह बादशाह के सामने उपस्थित होने की आज्ञा पा सका। उसने सोचा था कि बादशाह उसकी प्रशंसा करेंगे और पुरस्कारों से सम्मानित भी। अन्य लोगों द्वारा मिली प्रशंसा और पुरस्कारों के कारण उसकी यह आशा उचित ही थी। लेकिन बादशाह ने उससे क्या कहा ? बादशाह ने कहा : "महानुभाव, मैं बुलबुल को ही गीत गाते सुन चुका हूँ। मैं आपसे बुलबुल के गीतों को सुनने की नहीं, वरन् उस गीत को सुनने की

आशा और अपेक्षा रखता हूँ जिसे गाने के लिए आप पैदा हुए हैं। बुलबुलों के गीतों के लिए बुलबुलें ही काफी हैं। आप जायँ और अपने गीत को तैयार करें और जब वह तैयार हो जाये तो आवें। मैं आपके स्वागत के लिए तैयार रहूँगा और आपके लिए पुरस्कार भी तैयार रहेंगे।" निश्चय ही जीवन दूसरों की नकल के लिए नहीं, वरन् स्वयं के बीज में जो छिपा है, उसे ही वृक्ष बनाने के लिए है। जीवन अनुकृति नहीं, मौलिक सृष्टि है।

१४

एक मंदिर निर्मित हो रहा है। मैं उसके पास से निकलता हूँ तो सोचता हूँ : मंदिर तो बहुत हैं। शायद उनमें जानेवाले ही कम पड़ते जाते हैं। लेकिन फिर यह नया मंदिर क्यों बन रहा है ? और यही अकेला भी तो नहीं है। और भी मंदिर बन रहे हैं। रोज ही नए मंदिर बन रहे हैं। मंदिर बनते जाते हैं और मंदिरों में जानेवाले घटते जाते हैं। इसका रहस्य क्या है ? बहुत खोजता रहा, लेकिन राज हाथ नहीं आता था। फिर उस मंदिर को बनानेवाले एक वृद्ध कारीगर से पूछा। सोचा, शायद नए-नए मंदिरों के बनते जाने का रहस्य उसे ज्ञात हो, क्योंकि उसने तो बहुत से मंदिर बनाए हैं ? वह वृद्ध मेरा प्रश्न सुन हँसने लगा और फिर मुझे मंदिर के पीछे ले गया, जहाँ पत्थरों पर काम हो रहा था। वहाँ भगवान की मूर्तियाँ भी बन रही थीं। मैंने सोचा कि शायद वह कहेगा कि भगवान की इन मूर्तियों के लिए मंदिर बन रहा है, लेकिन इससे तो मेरी जिज्ञासा शांत नहीं होगी, क्योंकि तब प्रश्न होगा कि भगवान की ये मूर्तियाँ क्यों बन रही हैं ? लेकिन नहीं, मैं भूल में था। उसने मूर्तियों की कोई बात नहीं उठाई। वह तो उन्हें छोड़ आगे ही बढ़ता गया। सबसे अंत में, सबसे पीछे कुछ कारीगर एक पत्थर पर काम कर रहे थे। उस वृद्ध ने उस पत्थर को दिखाकर मुझे कहा : "इसके लिए मंदिर बन रहा है और इसके लिए ही सदा मंदिर बनते रहे हैं।" मैं तो अवाक् ही रह गया और अपनी बुद्धिहीनता पर पछताने लगा। अरे ! यह पहले ही मैं स्वयं क्यों न सोच सका ? उस पत्थर पर मंदिर बनानेवाले का नाम खोदा जा रहा था !

यह सोचता हुआ घर लौटता था कि मार्ग में एक जुलूस मिला। किसी ने संसार छोड़ संन्यास ले लिया है। उसके स्वागत में जुलूस निकल रहा है। मैं भी राह के किनारे खड़ा हो देखने लगा। जिन्होंने संन्यास लिया है, उनके चेहरे को, उनकी आँखों को देखता हूँ। उनकी आँखों में तो संन्यासी की शून्यता कहीं भी नहीं है। उनमें तो वही दर्प है, वही अस्मिता है, जो राजनेताओं की

भी तो मैं जानता हूं। अहंकार के जिस सूक्ष्म रूप के दर्शन उनमें होते हैं, वैसे दर्शन अन्यत्र तो दुर्लभ ही हैं। शायद मनुष्य के मन से जो भी क्रिया फलित होती है, वह अहंकार के ऊपर नहीं जा सकती है। मन से मुक्त हुए बिना अहंकार से भी मुक्ति नहीं है। थोड़े ही दिन हुए हैं, एक मित्र ने दस दिन के उपवास किए थे। उन उपवासों का ढिंढोरा पीटने में उनकी आकुल उत्सुकता देख मुझे हैरानी हुई थी। लेकिन नहीं, वह मेरी ही भूल थी। उस बूढ़े कारीगर ने तो आज मेरी जीवन भर की भूलें ही उघाड़कर रख दी हैं। उपवासों के बाद उन मित्र का बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ था। मैं भी उसमें उपस्थित था। वहां एक बंधु मेरे कान में बोले थे: "स्वागत-समारोह का सारा खर्च बेचारे ने स्वयं ही उठाया है!" उस दिन तो मैं चौंका था, लेकिन आज उस बूढ़े के कारण ज्यादा समझदार हूं और चौंकने का कोई भी कारण दिखाई नहीं पड़ता है। उल्टे एक विचार बार-बार मन में आता है कि जब संसार में विज्ञापन हितकर है, तो स्वर्ग में क्यों नहीं होगा? क्या स्वर्ग के नियम भी संसार-जैसे ही नहीं होंगे? आखिर संसार जिस चित्त से निर्मित है, स्वर्ग भी तो उसी की उत्पत्ति है? स्वर्ग की कामना, कल्पना क्या सांसारिक मन की ही वासना नहीं है? फिर यह परमात्मा क्या है? क्या मनुष्य-मन का आविष्कार ही नहीं है? वह भी तो अपमान से अपमानित और क्रोधित होता है और प्रतिशोध से शत्रुओं को नरकाग्नि में जलाता है। वह भी तो स्तुति से प्रसन्न होता है और भक्तों को कष्टों से बचाता है और उन पर सुखों की वर्षा करता है। यह सब क्या मनुष्य-मन का ही प्रतिफलन नहीं है? फिर उसके लोक में विज्ञापन क्यों कारगर नहीं हो सकता है? वह भी तो प्रसिद्धि को ही प्रमाण मानता होगा? आखिर उसके पास भी मनुष्य की माप का और क्या उपाय हो सकता है? एक संन्यासी से मैंने यही कहा तो वे बहुत नाराज हुए और बोले: "यह सब क्या आप सोचते रहते हैं? धर्म में विज्ञापन की क्या आवश्यकता? यह सब तो अहंकार का खेल है। यह सब उसी की माया है। अज्ञान में जीवन अहंकार में पड़ा रहता है।" उन्होंने जब यह कहा तो मैंने मान लिया। त्याग से ज्ञान मिलता है, और उन्होंने तो सभी कुछ त्याग दिया है। जरूर ही उन्हें ज्ञान मिल गया होगा। अब उनकी बात पर संदेह करना संभव ही कैसे था? लेकिन, थोड़े ही समय में उन्होंने दो-चार बार याद दिला दी कि वे लाखों रुपयों की संपत्ति पर लात मारकर संन्यासी हुए हैं, अर्थात् वे कोई छोटे-मोटे संन्यासी नहीं

१५

"मैं स्वयं को ब्रह्म में लीन करना चाहता हूँ। अहंकार ही दुख है। मैं इस अहंकार को परमात्मा में समर्पित करना चाहता हूँ। मैं क्या करूँ ?" एक भक्त ने अत्यंत व्याकुलता से मुझ से पूछा था। उन्हें मैं जानता हूँ। वर्षों से वे भगवान के मंदिर में ही बैठे रहते हैं। भगवान के चरणों में घंटों सिर रखे रोते रहते हैं। उनकी अभीप्सा तो तीव्र है, लेकिन दिशा भ्रांत है। क्योंकि जो व्यक्ति "मैं" को स्वीकार कर लेता है, वह उस स्वीकृति के कारण ही "म" बन जाता है। फिर इस "मैं" से पीड़ा आती है तो वह इससे छूटना चाहता है और भगवान की शरण में समर्पित होना चाहता है, लेकिन इस खोज और समर्पण का केन्द्रबिन्दु भी वह "मैं" ही होती है। क्योंकि, जो समर्पण करना चाहता है, वह कौन है ? जो दुख से, पीड़ा से, छूटना चाहता है, वह कौन है ? क्या वह "मैं" ही नहीं है ? परमात्मा के लिए, परमानंद के लिए, मोक्ष के लिए यह आतुरता-व्याकुलता किसकी है ? वह कौन है जो संसार में दौड़ाता है और फिर मुक्ति के लिए भी उत्तप्त करता है ? क्या वह "मैं" ही नहीं है ?

मैं पूछता हूँ कि क्या यह संभव है कि मैं स्वयं को ही छोड़ सकूँ—स्वयं का ही समर्पण कर सकूँ ? क्या मेरा छोड़ना भी "मेरा" ही छोड़ना न होगा ? क्या मेरा समर्पण भी "मेरा" ही समर्पण नहीं है ? और जो "मेरा" है, उससे ही तो मेरा "मैं" निर्मित होता है। मेरा धन, मेरा पद, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे ही "मैं" को नहीं बनाते हैं ? मेरा संन्यास, मेरा त्याग, मेरा समर्पण, मेरी सेवा, मेरा धर्म, मेरी आत्मा, मेरा मोक्ष भी "मैं" को ही बनाते हैं। जहाँ तक कुछ भी "मेरा" शेष है, वहाँ तक "मैं" भी पूर्णरूपेण अक्षुण्ण है।

"मैं" की प्रत्येक क्रिया, पाप या पुण्य, भोग या त्याग, "मैं" को ही पुष्ट करती है। साधना या समर्पण सभी से वह संगठित और सशक्त होता है।

क्या "मैं" को छोड़ने का कोई उपाय नहीं है ? क्या "मैं" के त्याग की कोई विधि नहीं है ? "मैं" को छोड़ने, त्यागने या समर्पित करने का न कोई उपाय है, न विधि है, क्योंकि जो भी किया जा सकता है, वह सब अंतत के लिए ही प्राणप्रद सिद्ध होता है। कर्म के द्वारा, क्रिया के द्वारा

द्वारा, "मैं" के बाहर न कोई कभी गया है और न जा सकता है, क्योंकि संकल्प स्वयं ही सूक्ष्म रूप में "मैं" है। संकल्प "मैं" का ही कच्चा रूप है। वही तो पककर "मैं" बनता है। "मैं" संकल्प की ही तो घनीभूत दशा है। इसलिए, संकल्प से "मैं" को कैसे छोड़ा जा सकता है ? और हमारी साधनाएँ क्या हैं ? हमारे समर्पण क्या हैं ? क्या वे सब संकल्प के ही विस्तार नहीं हैं ?

"मैं" के ही द्वारा "मैं" से मुक्ति के उपाय वैसे ही मूढ़तापूर्ण हैं, जैसे स्वयं के ही जूतों के फीतों को पकड़कर स्वयं को ऊपर उठाने की चेष्टा हो सकती है। वस्तुत: "मैं" को छोड़ा ही नहीं जा सकता है। क्योंकि यदि वह है तो और जो है, वह नहीं हो सकता है और यदि वह नहीं है, तो नहीं है, और तब उसके नहीं होने का सवाल ही नहीं है। इसलिए उचित है कि "मैं" को जाना जाय। मैं कहता हूँ : समर्पण नहीं, ज्ञान। साधना नहीं, ज्ञान। त्याग नहीं, ज्ञान। और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यही है कि साधना से, समर्पण से जहाँ वह और समृद्ध होता है, वहाँ ज्ञान से वह पाया ही नहीं जाता है !

"मैं" को उसकी समग्रता में जान लेना ही उससे मुक्त हो जाना है।

"मैं" को छोड़ा नहीं जा सकता है, क्योंकि वस्तुत: वह है ही नहीं। और जो नहीं है, उसे छोड़ने के लिए व्यर्थ ही और असत्य आविष्कृत करने पड़ते हैं।

"मैं" एक असत्य है। उसे त्यागने के लिए "समर्पण" का एक दूसरा असत्य निर्मित करना होता है। फिर "समर्पण" के असत्य के लिए एक "परमात्मा" की कल्पना भी करनी होती है। लेकिन, ऐसे असत्य से मुक्ति नहीं होती, उल्टे और बड़े असत्यों का सृजन होता जाता है।

एक साधु था। उसे राह के किनारे पड़ा एक अनाथ बालक मिल गया। साधु ने उसे पाला-पोसा, बड़ा किया। साधु के झोंपड़े के पीछे ही मरघट था और वह बालक था अतिचंचल। वह दिन में, रात्रि में कभी भी मरघट पर चला जाता था। वह मरघट पर न जाय, इसलिए साधु ने उससे कहा : "अँधेरे में कभी वहाँ मत जाना, वहाँ भूत रहते हैं जो मनुष्य को खा जाते हैं।" स्वभावत: उस दिन से वह बालक मरघट से डरने और बचने लगा। फिर वह गुरुकुल गया। वहाँ भी वह एकांत और अँधेरे से भय खाता था। वर्षों बाद वह पुन: घर लौटा। अब वह युवा हो गया था, लेकिन उसके साथ ही साथ उसका भय भी युवा हो गया था। एक रात्रि साधु ने उसे मरघट पारकर गांव में किसी काम से जाने को कहा। लेकिन वह युवक रात्रि में मरघट पार करने

के खयाल से ही काँपने लगा और बोला : "मैं अँधेरे में वहाँ कैसे जा सकता हूँ ? वहाँ तो भूत-प्रेत हैं न, जो मनुष्य को खा जाते हैं ?" साधु हँसा और उसने उसकी भुजा पर एक तावीज बाँधकर कहा : "जा, अब भूत-प्रेत तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। इस तावीज के कारण भगवान सदा तेरी रक्षा के लिए साथ रहेंगे। भगवान के कारण अब भूत तेरे सामने भी नहीं आ सकते हैं।" भगवान को साथ पा भूतों से क्या डर हो सकता था ? वह युवक गया और मरघट में भूतों को न पाकर उसके समक्ष भगवान की शक्ति सहज ही प्रमाणित हो गई ! इस भाँति भूत तो गए, लेकिन भगवान आ गए। पर भूतों को भगाने के लिए जो भगवान लाए गए थे, वे स्वभावतः बड़े भूत ही तो हो सकते थे ! वह युवक अब भगवान के सहारे भूतों से तो बचकर निकल जाता था, लेकिन तावीज को एक क्षण भी स्वयं से दूर नहीं कर सकता था ! अब भूतों तक को डरानेवाले भगवान से उसका स्वयं का भयभीत होना भी अपरिहार्य था। वह डरता था कि कहीं भगवान उसके किसी दोष, पाप या अपराध के कारण उसका साथ न छोड़ दें, नहीं तो फिर भूत-प्रेत उससे भलीभाँति बदला लेंगे। इससे वह भगवान की पूजा-प्रार्थना भी करता था। उनकी स्तुति तो करता ही, साथ ही पृथ्वी पर उनके प्रतिनिधियों और दलालों से भयभीत होना पड़ता था। साधु यह सब देख बहुत घबड़ाया। उसका इलाज तो और महारोग सिद्ध हुआ था। ऐसे भगवान से तो बेचारे भूत-प्रेत ही अच्छे थे। वे तो रात्रि के अँधेरे में मरघट में ही सताते थे, लेकिन ये भगवान तो दिन के उजाले में भी पीछा कर रहे थे। एक अमावस की रात्रि में साधु ने युवक की बाँह से झटका देकर तावीज तोड़ डाला और उसे सामने जल रही अँगीठी में फेंक दिया। युवक तो थरथर काँपने लगा और उसका चेहरा एकदम पीला पड़ गया। वह तो मूर्च्छित ही हो जाता, लेकिन साधु ने उसे सँभाला और भूतों के जन्म और फिर भगवान के आविष्कार की सारी कथा उसे बताई। वह थोड़ा आश्वस्त हुआ तो उसे लेकर साधु मरघट में गया। उन्होंने मरघट का कोना-कोना छान डाला। युवक हैरान हुआ, वहाँ तो कोई भूतप्रेत थे ही नहीं इस प्रकार भूत भी गए और भगवान भी गए। वह युवक स्वस्थ हुआ और भय-मुक्त हुआ। वस्तुतः भूत-प्रेतों और उनके आवास को ठीक से खोज लेना ही उनसे मुक्त हो जाना है।

'मैं' पीड़ा देता है, संताप लाता है, चिन्ता जन्माता है, मृत्यु की असुरक्षा

और भय उपजाता है, इसलिए उससे बचने को भगवान के प्रति समर्पण आविष्कृत होता है। उसके भय से ही भगवान और भक्ति की उत्पत्ति होती है जबकि 'मैं' है ही नहीं। जब तक उसे नहीं खोजा और नहीं जाना, तभी तक वह है। अज्ञान के अतिरिक्त उसकी और कोई सत्ता ही नहीं है। और जो है ही नहीं, उसका समर्पण कैसा? जब भूत हैं ही नहीं, तो बचाव किससे? भूत हैं, इसलिए भगवान की जरूरत है। 'मैं' है, इसलिए समर्पण की जरूरत है। 'मैं' के भूत को खोजो। उससे बचाव के लिए गंडे-तावीजों को नहीं खोजो। जाओ स्वयं के भीतर और खोजो कि यह 'मैं' कहाँ है? जैसे ही खोजोगे, पाओगे कि वह नहीं है। मरघट भूतों से खाली है। स्वयं की सत्ता 'मैं' से शून्य है, वही परमात्मा है। और तब जो अनुभव में आता है, वही समर्पण है; और तब जिसकी उपस्थिति है, वही ब्रह्म है।

१६

एक वुढ़िया वहुत वीमार थी। घर में वह अकेली थी इसलिए वहुत कठिनाई में पड़ी थी। एक दिन सुवह-सुवह ही दो अत्यंत भद्र और धार्मिक दीखनेवाली महिलाएँ उसके पास आईं। उनके माथों पर चन्दन था और हाथों में रुद्राक्ष की मालाएँ। उन्होंने आकर उस बुढ़िया की सेवा शुरू कर दी और कहा : "परमात्मा की प्रार्थना से सब ठीक हो जायगा। विश्वास शक्ति है और विश्वास कभी निष्फल नहीं जाता है।" उस सीधी वुढ़िया ने उनकी बातों पर विश्वास कर लिया। वह अकेली थी और अकेला व्यक्ति किसी पर विश्वास करना चाहता है। वह पीड़ा में थी और पीड़ा में मनुष्य का मन सहज ही विश्वासी हो जाता है! उन अपरिचित महिलाओं ने दिन भर उसकी सेवा की। सेवा और दिन भर की धार्मिक वातों के कारण वुढ़िया का विश्वास और भी वढ़ गया। फिर रात्रि में उन महिलाओं के निर्देशानुसार वह एक चादर ओढ़कर भूमि पर लेटी, ताकि उसके स्वास्थ्य के लिए परमात्मा से प्रार्थना की जा सके। धूप जलाई गई। सुगंध छिड़की गई। एक महिला उसके सिर पर हाथ रखकर अवूझ मंत्रों का उच्चार करने लगी, और फिर मंत्रों की एक सुरीली ध्वनि दे वुढ़िया को थोड़ी ही देर में सुला दिया। आधी रात को उसकी नींद खुली। घर में अंधकार था। उसने दीया जलाया तो पाया कि वे अपरिचित महिलाएँ न मालूम कब की चली गई हैं। घर के द्वार खुले पड़े हैं और उसकी तिजोरी भी टूटी पड़ी है। विश्वास अवश्य ही फलदायी हुआ था! वुढ़िया को तो नहीं, लेकिन उन धूर्त महिलाओं को। इसमें कोई आश्चर्य की वात नहीं है, क्योंकि विश्वास सदा ही धूर्तों को फलदायी हुआ है।

धर्म विश्वास नहीं, विवेक है। वह अंधापन नहीं, आँखों का उपचार है।

किन्तु शोषण के लिए विवेक वाधा है और इसीलिए विश्वास का विष पिलाया जाता है।

विचार विद्रोह है और चूँकि विद्रोही का शोषण असंभव है, इसीलिए विश्वास की शिक्षा दी जाती है।

विचार व्यक्ति को मुक्त करता है, उसे व्यक्ति वनाता है। लेकिन शोषण

के लिए तो भेड़ें चाहिए, भीड़ का अनुगमन करनेवाले दुर्बल चित्त व्यक्ति चाहिए। इसीलिए विचार की हत्या की जाती है और विश्वास पालापोसा जाता है।

मनुष्य असहाय है, इसीलिए असहायावस्था में, अकेलेपन में, विश्वास के लिए तैयार हो जाता है।

जीवन दुख है, इसीलिए दुख से पलायन करने के लिए किसी भी विश्वास और आस्था के प्रति शरणागत हो जाता है।

यह स्थिति शोषकों के लिए, स्वार्थियों के लिए निश्चय ही स्वर्ण अवसर बन जाती है।

धर्म धूर्तों के हाथों में है, इसीलिए ही तो जगत में अधर्म है।

धर्म की जब तक विश्वास से मुक्ति नहीं होगी, तब तक वास्तविक धर्म का जन्म नहीं हो सकता है।

धर्म जब विवेक की अग्नि से संयुक्त होता है, तब उससे स्वतंत्रता, सत्य और शक्ति का उद्भव होता है। धर्म शक्ति है, क्योंकि विचार शक्ति है। धर्म प्रकाश है, क्योंकि प्रज्ञा प्रकाश है। धर्म मुक्ति है, क्योंकि विवेक मुक्ति है।

था : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता।" एक यात्री उस सराय में पहली बार ठहरा था। उस तोते की वेदनाभरी वाणी उसके मर्म को छू लेती थी। वह भी अपने देश की स्वतंत्रता के युद्ध में अनेक बार कैद में रह चुका था। और तोता जब उस पहाड़ी के सन्नाटे को तोड़कर कहता : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता" तो उसके हृदय के तार झनझना उठते थे। उसे अपने कैद के दिनों की स्मृति हो आती और स्मरण हो आता कि ऐसे ही तो उसकी अंतरात्मा भी चिल्लाती थी : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता"। रात्रि हो गई तो वह यात्री उठा और उसने स्वतंत्रता के आकांक्षी उस तोते को उसकी कैद से मुक्त करना चाहा। यात्री तोते को उसके पिंजड़े से बाहर खींचता था, लेकिन तोता निकलने को राजी नहीं होता था। इसके विपरीत अपने सींकचों को पकड़कर वह चिल्लाता था : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता"। बड़ी मुश्किल से वह यात्री तोते को बाहर निकाल पाया। उसे आकाश में उड़ाकर वह निश्चिन्त हो सो गया। लेकिन सुबह उठकर ही उसने देखा कि तोता अपने पिंजड़े में आनन्द से बैठा है और चिल्ला रहा है : "स्वतंत्रता, स्वतंत्रता, स्वतंत्रता"।

१८

एक घटना मैंने सुनी है। युद्ध के दिन थे और अचानक बमवारी शुरू हो गई थी। किसी निर्जन रास्ते पर एक धर्म-पुरोहित कहीं जा रहा था। उसने जल्दी से भागकर पास में ही बनी लोमड़ियों की एक गुफा में शरण ली। जैसे ही वह भीतर पहुँचा, उसने देखा कि एक सैनिक अफसर पहले ही से वहाँ छिपा हुआ है। वह सैनिक अफसर एक कोने में हट गया, ताकि नए आगन्तुक के लिए जगह हो सके। तब पास में ही बम गिरने लगे। पुरोहित के हाथ-पैर कँपने लगे। उसने घुटने टेककर परमात्मा से प्रार्थना शुरू कर दी। वह बहुत जोर-जोर से प्रार्थना कर रहा था। उसने बीच में आँख उठाकर देखा तो पाया कि वह सैनिक अफसर भी उसी की भाँति जोर-जोर से प्रार्थना कर रहा है। फिर जब आक्रमण बंद हो गया तो धर्म-पुरोहित ने उस सैनिक अफसर से पूछा : "बंधु, मैंने देखा कि आप भी प्रार्थना कर रहे थे"। वह सैनिक अफसर हँसने लगा और बोला : "महानुभाव, लोमड़ियों की गुफाओं में नास्तिक कहाँ ?"

क्या तुम भी तो भय के कारण ही भगवान की खोज नहीं कर रहे हो ? क्या तुम्हारी प्रार्थनाएँ भी तो भय पर ही आधारित नहीं हैं ?

स्मरण रहे कि भय पर प्रतिष्ठित धर्म, सत्य धर्म नहीं है।

मैं भयभीत आस्तिक की बजाय भयशून्य नास्तिक को ही पसंद करता हूँ, क्योंकि भय से भगवान तक पहुँचना असंभव है।

सत्य को पाने की पहली शर्त तो अभय है।

विचार तो करो : क्या भय कभी प्रेम बन सकता है ? और यदि भय प्रेम नहीं बनता तो प्रार्थना कैसे बनेगा ?

प्रार्थना तो प्रेम की ही पूर्णता है।

किन्तु, मनुष्य के द्वारा बनाए गए सभी मंदिरों की बुनियादों में भय की ईंटें हैं और भय के द्वारा गढ़ा हुआ भगवान भय की भावनाओं से ही निर्मित है।

इसलिए ही तो हमारा सभी कुछ असत्य हो गया है। क्योंकि जिनका भगवान ही सत्य नहीं है, उनका और क्या सत्य हो सकता है ?

और जिनका प्रेम असत्य है, जिनकी प्रार्थना असत्य है, यदि उनके प्राण ही असत्य हो गए हों तो आश्चर्य कैसा ?

प्रेम से—केवल प्रेम से—ही प्रार्थना सत्य होती है।

और ज्ञान से—केवल ज्ञान से—ही उसे जाना जाता है जो कि वस्तुतः है।

मैं कहता हूँ प्रेम करो क्योंकि प्रेम की प्रगाढ़ता ही जीवन को प्रार्थना में परिणत कर देती है। मैं कहता हूँ स्वयं की प्रज्ञा को जगाओ, क्योंकि उसका जागरण ही परमात्मा का दर्शन है।

प्रेम और प्रज्ञा—जो इन दो बीज मंत्रों को समझ लेता है, वह सब समझ जाता है, जो समझना चाहिए और जो समझने योग्य है और जो समझा जा सकता है।

परमात्मा का मंदिर कहाँ है ? जब कोई मुझसे पूछता है तो मैं कहता हूँ: प्रेम में और प्रज्ञा में।

निश्चय ही प्रेम परमात्मा है, प्रज्ञा परमात्मा है।

है। शायद, वहीं मेरा स्थान भी है और वहीं मेरी आवश्यकता भी है।"

उसके यह कहते ही द्वारपालों ने स्वर्ग के द्वार खोल दिए और कहा : "मर्त्यों में आप धन्य हैं। आपने अमृतत्व की उपलब्धि कर ली। स्वर्ग के द्वार आपके लिए सदा ही खुले हैं। आपका स्वागत है।"

क्या जीवन में अंतिम होना ही परमात्मा की प्रार्थना नहीं है?

और क्या जीवन में अंतिम होना ही मोक्ष नहीं है?

२०

एक पूर्णिमा की बात है। आधी रात थी और मैं मित्रों से घिरा एक झील में नौका पर था। चारों ओर चाँदनी में नहाई हुई पहाड़ियाँ थीं। सब कुछ ऐसा सुन्दर था कि विश्वास योग्य नहीं था। लगता था जैसे किसी मधुर स्वप्न में हों। नौका खेना छोड़कर हम झील के बीच में ही ठहर गए थे। लेकिन मेरे मित्र वहाँ नहीं थे। वे ही अपने साथ मुझे वहाँ लाए थे, लेकिन वे स्वयं न मालूम कहाँ पीछे रह गए थे या आगे निकल गए थे। मैं उनसे घिरा हुआ भी उस झील पर अकेला था। क्योंकि वे न मालूम किन-किन बातों में खोए हुए थे। बातें या तो अतीत की थीं, जो अब नहीं था या भविष्य की थीं, जो अभी नहीं था। लेकिन उनकी चेतना वहाँ नहीं थी, जहाँ वे थे। उस अद्‌भुत झील और उस स्वप्निल रात्रि के प्रति उनकी उपस्थिति नहीं थी। जैसे वर्तमान उनके लिए था ही नहीं। और तभी उन्होंने पूछा: "क्या परमात्मा है?" मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ, इस सोच में पड़ गया। क्योंकि, जिनका वर्तमान की जीवन्तता से कोई संपर्क नहीं है, उनका परमात्मा से सम्बन्ध भी क्या और कैसे हो सकता है? जीवन ही तो परमात्मा है। जीवन की अनुभूति ही तो परमात्मा की अनुभूति है। फिर भी मैंने उनसे कहा: "मित्र, क्या यह झील है? क्या यह चाँद है? क्या यह रात्रि है? और क्या हम इस पूरे चाँद की अद्‌भुत रात्रि में इस झील पर उपस्थित हैं?" निश्चय ही वे चौंक गए थे और बोले थे: "हाँ! इसमें शक का सवाल ही क्या है?" लेकिन मैंने कहा था: "नहीं, संदेह ही नहीं, मुझे तो विश्वास है कि आप यहाँ नहीं हैं। फिर मे सोचें। शारीरिक अर्थों में जो उपस्थित है, वह जगत् में पदार्थ-सत्ता का ही संवेदन पा सकता है, लेकिन जो अपनी समग्र चेतना से उपस्थित है, उसे तो अभी और यहीं परमात्मा की अनुभूति हो सकती है। परमात्मा है, लेकिन केवल उसके लिए, जो उसके प्रति उपस्थित है, 'जो है'।"

फिर एक घटना मुझे स्मरण आई और उसे मैंने उनसे कहा:

एक दफ्तर के बाहर कुछ व्यक्ति बैठे हुए थे। बेतार के यंत्र-संचालक के लिए उनमें से एक का चुनाव होना था। वे सभी आवेदक और उम्मीदवार

जोर-जोर से व्यर्थ की चर्चाओं में डूबे हुए थे। तभी ध्वनिविस्तारक पर धीरे-धीरे खट-खट की आवाजें आनी शुरू हुईं। लेकिन वे सब तो अपनी बातों में इतने व्यस्त और बेहोश थे कि उनका उन धीमे से संकेतों की ओर ध्यान जाना असंभव ही था। लेकिन एक युवक उन सबसे दूर एक कोने में अकेला ही बैठा था। वह एकदम से उठा और दफ्तर के भीतर चला गया। शेष सबने तो उसे उठते या दफ्तर के भीतर जाते भी नहीं देखा था। उसकी ओर उनका ध्यान तो तब गया था, जब वह मुस्कराता हुआ नियुक्ति पत्र हाथ में लिये थोड़ी ही देर बाद दफ्तर से बाहर आया था। स्वाभावतः ही वे सब इससे अवाक् रह गए थे और क्रोध में उन्होंने उस युवक से पूछा था : "महाशय, आप सबसे पहले भीतर कैसे गए? हम सब तो आपसे बहुत पहले से यहाँ मौजूद हैं! आप तो पंक्ति में अंतिम थे। और बिना हम सबका विचार किए आपकी नियुक्ति भी कैसे हो सकती है? यह कैसी धाँधली है? यह कैसा अन्याय है?" इस पर वह युवक हँसने लगा था और बोला था : "मित्रो, मेरा इसमें क्या दोष है? आपमें से किसी की भी नियुक्ति हो सकती थी और आप सब पर विचार करने के बाद ही मेरी नियुक्ति की गई है! क्या आपने ध्वनि-विस्तारक पर भेजे गए संदेश को नहीं सुना था?" वे सभी एक साथ ही बोले थे : "कैसा संदेश? कौन-सा संदेश?" तब उस युवक ने उनसे कहा था : "क्या आप बेतार की संकेत-भाषा से परिचित नहीं हैं? ध्वनिविस्तारक पर जो खट-खट की आवाजें आ रही थीं, उनके द्वारा अत्यंत स्पष्ट रूप से कहा गया था : "मैं एक ऐसे व्यक्ति को चाहता हूँ, जो हमेशा सावधान और सचेत हो। जो व्यक्ति सबसे पहले इस संदेश को सुनकर दफ्तर में आयगा, उसके लिए नियुक्ति-पत्र तैयार कर रखा गया है।"

परमात्मा के संदेशों की भी प्रतिक्षण वर्षा हो रही है। प्रकृति उसकी संकेत-भाषा है। मौन होकर, सावधान होकर जो व्यक्ति उन संकेतों के प्रति जागता है, वह उसके द्वारा निश्चय ही भीतर बुला लिया जाता है।

२१

क्या प्रेम ही परमात्मा नहीं है ?

क्या प्रेम में डूबा हुआ हृदय ही उसका मंदिर नहीं है ?

और, क्या जो प्रेम को छोड़, उसे कहीं और खोजता है, वह व्यर्थ ही नहीं खोजता है ?

एक दिन यह मैं अपने से पूछता था। आज यही आपसे भी पूछता हूँ।

परमात्मा को जो खोजता है, वह घोषणा करता है कि प्रेम उसे उपलब्ध नहीं हुआ है। क्योंकि जो प्रेम को उपलब्ध होता है, वह परमात्मा को भी उपलब्ध हो जाता है।

परमात्मा की खोज प्रेम के अभाव से पैदा होती है, जबकि प्रेम के बिना परमात्मा को पाना असंभव ही है।

परमात्मा को जो खोजता है, वह परमात्मा को तो पा ही नहीं सकता, प्रेम की खोज से अवश्य ही वंचित हो जाता है। किन्तु जो प्रेम को खोजता है, वह प्रेम को पाकर ही परमात्मा को भी पा लेता है।

प्रेम मार्ग है। प्रेम द्वार है। प्रेम पैरों की शक्ति है। प्रेम प्राणों की प्यास है। अंततः प्रेम ही प्राप्ति है। वास्तव में प्रेम ही परमात्मा है।

मैं कहता हूँ : परमात्मा को छोड़ो। प्रेम को पाओ। मंदिरों को भूलो। हृदय को खोजो। क्योंकि, वह है तो वहीं है।

परमात्मा की यदि कोई मूर्ति है तो वह प्रेम है। लेकिन पाषाण-मूर्तियों में वह मूर्ति खो ही गई है। परमात्मा का कोई मंदिर है, तो वह हृदय है, लेकिन मिट्टी के मंदिरों ने उसे भलीभाँति ढँक लिया है।

परमात्मा उसकी ही मूर्तियों और मंदिरों के कारण खो गया है और उसके पुजारियों के कारण ही उससे मिलन कठिन है। उसके लिए गाई गई स्तुतियों और प्रार्थनाओं के कारण ही स्वयं उसकी ध्वनि को सुन पाना असंभव हो गया है।

प्रेम आवे तो उसमें ही परमात्मा भी मनुष्य के जीवन में लौटकर आ

एक पंडित एक फकीर से मिलने गया था। उसके सिर पर शास्त्रों की इतनी बड़ी गठरी थी कि फकीर के झोंपड़े तक पहुँचते-पहुँचते वह अधमरा हो गया था। उसने जाकर फकीर से पूछा : "परमात्मा को पाने के लिए मैं क्या करूँ ?" लेकिन जिस गठरी को वह सिर पर लिये हुए था, उसे सिर पर ही लिये रहा ! फकीर ने कहा : "मित्र ! सबसे पहले तो इस गठरी को नीचे रख दो।" पंडित ने बड़ी कठिनाई अनुभव की। फिर भी उसने साहस किया और गठरी को नीचे रख दिया। आत्मा के बोझों को नीचे रखने के लिए निश्चय ही अदम्य साहस की जरूरत होती है। लेकिन फिर भी एक हाथ वह गठरी पर ही रखे हुए था। फकीर ने पुनः कहा : "मित्र ! उस हाथ को भी दूर खींच लो !" वह बड़ा बलशाली व्यक्ति रहा होगा, क्योंकि उसने शक्ति जुटाकर अपना हाथ भी गठरी से दूर कर लिया था। तब फकीर ने उससे कहा : "क्या तुम प्रेम से परिचित हो ? क्या तुम्हारे चरण प्रेम के पथ पर चले हैं ? यदि नहीं, तो जाओ और प्रेम के मंदिर में प्रवेश करो। प्रेम को जियो और जानो और तब आना। फिर मैं तुम्हें परमात्मा तक ले चलने का आश्वासन देता हूँ।"

वह पंडित लौट गया। वह आया था तब पंडित था, लेकिन अब पंडित नहीं था। वह अपनी ज्ञान-गठरी वहीं छोड़ गया था।

वह व्यक्ति निश्चित ही असाधारण था और अद्‌भुत था। क्योंकि साम्राज्य छोड़ना आसान है किंतु ज्ञान छोड़ना कठिन है। ज्ञान अंहकार का अंतिम आधार जो है।

लेकिन, प्रेम के लिए अंहकार का जाना आवश्यक है।

प्रेम का विरोधी घृणा नहीं है। प्रेम का मूल शत्रु अहंकार है। घृणा तो उसकी ही अनेक संततियों में से एक है। राग, विराग, आसक्ति, विरक्ति, मोह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, लोभ, सभी उसकी ही संतानें हैं। अहंकार का परिवार बड़ा है।

फकीर ने उस व्यक्ति को गाँव के बाहर तक जाकर विदा दी। वह इस योग्य था भी। फकीर उसके साहस से आनंदित था। जहाँ साहस है, वहाँ धर्म के जन्म की संभावना है। साहस से स्वतंत्रता आती है और स्वतंत्रता से सत्य का साक्षात् होता है।

लेकिन फिर वर्ष पर वर्ष बीत गए। फकीर उस व्यक्ति के लौटने की

प्रतीक्षा करते-करते बूढ़ा हो गया। लेकिन वह न आया। अंततः फकीर ही उसे खोजने निकला और उसने एक दिन उसे खोज ही लिया। एक गाँव में वह आत्मविभोर हो नाच रहा था। उसे पहचानना भी कठिन था। आनंद से उसका कायाकल्प ही हो गया था। फकीर ने उसे रोका और पूछा : "आए नहीं ? मैं तो प्रतीक्षा करते-करते थक ही गया और तब स्वयं ही तुम्हें खोजता यहाँ आया हूँ। क्या परमात्मा को नहीं खोजना है?" वह व्यक्ति बोला : "नहीं। बिलकुल नहीं। प्रेम को पाया, उसी क्षण उसे भी पा लिया है।"

२२

एक स्त्री ने पूछा : "मैं स्वयं को बदलना चाहती हूँ। क्या करूँ ?"

मैंने कहा : "सबसे पहली बात : वस्त्रों को बदलने से बचना। क्योंकि जब भी किसी के जीवन में आत्मक्रांति की घड़ी आती है, तब उसका मन उसे वस्त्रों के बदलने में संलग्न कर देता है। मन के लिए यही सुविधापूर्ण है और इसमें ही उसकी सुरक्षा भी है। वस्त्रों के परिवर्तन से मन की मृत्यु तो होती नहीं, अपितु नए वस्त्रों में, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों के बजाय, वह और भी दीर्घायु हो जाता है। वस्त्रों के परिवर्तन से आत्मक्रांति तो नहीं होती, उल्टे अहंतुष्टि हो जाती है और अहंतुष्टि आत्मघात ही है।

वह स्त्री पूछने लगी : "कौन-से वस्त्र ?"

मैंने कहा : "बहुत प्रकार के वस्त्र हैं। बहुत प्रकार के आवरण हैं। बहुत प्रकार की आत्मवंचनाएँ हैं। जो भी ऊपर से ओढ़ा जा सके, उससे सावधान रहना। जो भी स्वयं के यथार्थ को ढाँकता हो, उसे ही आत्मवंचना जानना। उसे ही मैं वस्त्रों का नाम दे रहा हूँ। व्यक्ति पापी है तो वह पुण्य के वस्त्र पहन लेता है। व्यक्ति हिंसक है तो अहिंसा के वस्त्र धारण कर लेता है। व्यक्ति अज्ञानी है तो वह शास्त्रों और शब्दों से स्वयं को भरकर ज्ञान को ओढ़ लेता है। धर्म से बचने के लिए धर्म के वस्त्रों को धारण कर लेना अधार्मिक चित्त की सनातन चाल है। क्या जो मैं कह रहा हूँ, वह तुम्हें चारों ओर दिखाई नहीं पड़ता है ?"

फिर उसने कुछ सोचा और कहा : "मैं संन्यासिनी होना चाहती हूँ।"

मैंने कहा : "बस। तब जानो कि वस्त्रों को बदलने का प्रारंभ हो गया है। जब भी व्यक्ति कुछ होना चाहता है, तभी मन का षड्यंत्र शुरू हो जाता है। कुछ होने की महत्त्वाकांक्षा ही मन है। यह महत्त्वाकांक्षा ही उसे भुलाना चाहती है, जो है, और उसे ओढ़ना चाहती है, जो नहीं है। आदर्श ही सारे आवरणों और मुखौटों के जन्मदाता हैं। जिसे सत्य को जानना है, और सत्य को जाने बिना कोई मौलिक आत्मक्रांति संभव नहीं है, उसे जानना होगा जो वह वस्तुतः है। वह जो नहीं है, उसकी आकांक्षा में नहीं, वरन् वह जो है,

उसके पूर्ण अनावरण में क्रांति फलित होती है। व्यक्ति जब स्वयं के सत्य को पूर्णतया जानता है तो यही ज्ञान क्रांति बन जाता है। ज्ञान की क्रांति में समय का अंतराल नहीं है। जहाँ समय का अंतराल है, वहाँ क्रांति नहीं, आवरण-परिवर्तन की ही खोज है।"

और फिर उससे मैंने एक घटना कही :

एक दिन अबु हसन के पास एक व्यक्ति आया और बोला : "ओ परमात्मा के प्यारे दरवेश ! मैं अपने अपवित्र जीवन से भयाक्रांत हूँ और स्वयं को बदलने के लिए कटिबद्ध हूँ। मैं संन्यासी होना चाहता हूँ। क्या आप मुझ पर अनुकंपा नहीं करेंगे ? क्या आप अपने पहने हुए पवित्र वस्त्र मुझे नहीं दे सकते हैं ? मैं भी उन्हें पहनकर पवित्र होना चाहता हूँ।"

उस व्यक्ति ने हसन के पैरों पर सिर रख दिया और उन्हें आँसुओं से गीला कर दिया। उसकी उत्कट आकांक्षा में संदेह का तो सवाल ही नहीं था। उसके आँसू ही क्या उसके लिए गवाह नहीं थे ?

अबु हसन ने उसे उठाया और कहा : "मित्र ! इसके पहले कि मैं तुम्हें अपने वस्त्रों को देने की भूल करूँ, क्या तुम भी मेरे एक प्रश्न का उत्तर देने की कृपा कर सकते हो ? क्या कोई स्त्री किसी पुरुष के वस्त्रों को पहनकर पुरुष हो सकती है या कोई पुरुष किसी स्त्री के वस्त्र पहनकर स्त्री हो सकता है ?

उस व्यक्ति ने अपने आँसू पोंछ लिये। संभवतः वह गलत जगह आ गया था। और कहा : "नहीं।"

अबु हसन हँसने लगा और बोला : "ये रहे मेरे वस्त्र ! लेकिन यदि तुम मेरे शरीर को भी ओढ़ लो तो क्या होगा ? संन्यासी के वस्त्र पहनकर क्या कभी कोई संन्यासी हुआ है ?"

यदि मैं हसन की जगह होता तो कहता : "क्या कभी कोई संन्यासी होने की आकांक्षा से प्रेरित होकर भी संन्यासी हुआ है ? संन्यास आता है। वह ज्ञान का फल है और जहाँ कुछ भी होने की आकांक्षा है, वहाँ ज्ञान नहीं है। क्योंकि, आकांक्षा से आंदोलित चित्त होता है अशांत, और अशांति में ज्ञान कहाँ ? कुछ भी होने की वासना है, वहाँ स्वयं से पलायन है। और जो स्वयं से ही भागता है, वह स्वयं को जान कैसे सकता है ? इसलिए मैं कहता हूँ : भागो नहीं, जागो। बदलो नहीं, देखो। क्योंकि जो जागता है और स्वयं को देखता है, धर्म स्वयं ही उसके द्वार पर आ जाता है।"

एक धनपति ने किसी विशेष अवसर पर अपने मित्रों को भोज दिया था। उस राज्य का राजा भी भोज में उपस्थित था। इस कारण उस धनपति की खुशी का ठिकाना नहीं था। लेकिन अतिथि भोजन करने बैठे ही थे कि उसकी खुशी क्रोध में बदल गई। उसके दास-दासियाँ सेवा में लगे थे। एक दास से उनके पैर पर गर्म भोजन से भरी थाली गिर पड़ी। उसका पैर जल गया और उसकी आँखों में क्रोध उबल पड़ा। निश्चय ही उस गुलाम के जीवित बचने की अब कोई संभावना नहीं थी। वह गुलाम भय से थर-थर काँप रहा था। लेकिन मरता क्या न करता? उसने आत्मरक्षा के लिए उस देश के पवित्र धर्म ग्रंथ में एक वचन उद्धृत किया : "स्वर्ग उसका है जो अपने क्रोध पर संयम करता है!"

उसके मालिक ने सुना। उसकी आँखों में तो क्रोध उबल रहा था, लेकिन फिर भी वह संयमित होकर बोला : "मैं क्रोध में नहीं हूँ।"

इस पर स्वभावतः अतिथियों ने तालियाँ बजाईं और स्वयं राजा ने भी प्रशंसा की। उस धनपति की आँखों का क्रोध अभिमान बन गया। वह गौरवान्वित हुआ था।

लेकिन उस दास ने फिर कहा : "स्वर्ग उसका है जो क्षमा करता है।"

उसके मालिक ने कहा : "मैंने तुम्हें क्षमा किया।"

यद्यपि उन आँखों में क्षमा कहाँ जो अहंकार से भरी हों। लेकिन अहंकार क्षमा करके भी तो पुष्ट हो सकता है! अहंकार के मार्ग बहुत सूक्ष्म हैं।

वह धनपति अब तो अतिथियों को अत्यंत धार्मिक मालूम होने लगा था। उन्होंने तो सदा उसे एक क्रूर शोषक की भाँति ही जाना था। उसके इस अभिनव रूप को देखकर तो वे चकित ही रह गए थे। सामने ही बैठे राजा ने भी उसे ऐसे देखा जैसे कोई अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति को देखता है। वह धनपति अब पृथ्वी पर नहीं था। उनका सिर आकाश छू रहा था।

अंततः उस दास ने धर्मग्रन्थ का अधूरा वचन पूरा किया, "क्योंकि, परमात्मा उन्हें प्रेम करता है, जो दयालु हैं!"

उस धनपति ने चारों ओर देखा। लौकिक लोभ तो सदा ही उसकी आँखों में था। आज वही पारलौकिक बन गया था। उस गुलाम से उसने कहा : "जाओ, मैंने तुम्हें मुक्त किया। अब तुम मेरे गुलाम नहीं हो।" और साथ ही स्वर्ण-मुद्राओं से भरी एक थैली भी उसे भेंट दी। उसकी आँखों में क्रोध,

अहंकार बना था। अब वही लोभ बन गया था। क्रोध, लोभ, घृणा, भय—क्या सभी किसी एक ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं ?

और जब धर्म इतना सस्ता हो तो कौन धनपति उसे न खरीदना चाहेगा ?

धर्म भी क्या भय और लोभ के खंभों पर ही नहीं खड़ा हुआ है ?

मैं पूछता हूँ फिर अधर्म के खंभे कौन-से हैं ?

धर्म के मंदिर के शिखर पर भी क्या अहंकार ही नहीं है ?

मैं पूछता हूँ फिर अधर्म के मंदिर का शिखर कौन-सा है ?

२३

एक करोड़पति के घर में ठहरा था। उनके पास क्या था, जो नहीं था? किंतु उनकी आँखें बहुत निर्धन थीं। उन्हें देखकर बड़ी दया आती थी। सुबह से साँझ तक वे धन बटोरते थे। सिक्कों के गिनने, सँभालने और सुरक्षा करने में ही उनका जीवन बीता था। पर धनी वे नहीं थे। शायद रखवाले ही थे। दिनभर कमाते थे, रात्रि भर रखवाली करते थे। इसीलिए सो भी नहीं पाते थे! धन का कौन रखवाला कभी सो पाया है? निद्रा, स्वप्नशून्य निद्रा केवल उनकी ही संपत्ति बनती है, जो सब भाँति की संपत्तियों की विक्षिप्तता से मुक्त हो जाते हैं—धन की, यश की, या धर्म की। जिसकी कोई भी दौड़ है, उसके दिवस-रात्रि सभी अशांत हो जाते हैं। अशांति, दौड़ रहे चित्त की छाया है। जहाँ चित्त ठहरता है, वहीं शांति है।

मैं जब रात्रि में अपने दरिद्र, लेकिन करोड़पति अतिथेय से सोने के लिए विदा लेने लगा था तो उन्होंने कहा था: "मैं भी सोना चाहता हूँ, लेकिन नींद है कि मेरी ओर देखती ही नहीं! चिन्ताओं में ही रात्रि बीत जाती है। न मालूम कैसे अनर्गल विचार चलते रहते हैं, न मालूम कैसे-कैसे भय भयभीत करते हैं। स्वस्थ और शांत निद्रा के लिए मुझे कोई मार्ग बतावें। मैं क्या करूँ? मैं तो पागल हुआ जाता हूँ!"

क्या मार्ग मैं बताता? रोग तो मुझे ज्ञात था। धन ही उनका रोग था। वही दिन में उन्हें सताता था, वही रात्रि में। रात्रि तो दिन की ही प्रतिक्रिया और प्रतिफलन है। फिर रोग चाहे कुछ भी हो, मूलतः तो स्वयं के बाहर किसी भी भाँति की सुरक्षा की खोज ही मूलरोग है। उससे सुरक्षा तो आती नहीं, वरन् रोग ही और बढ़ता जाता है। सुरक्षा के सब उपायों को छोड़ जब तक व्यक्ति स्वयं पर ही नहीं लौट आता है, तब तक उसका पूरा जीवन ही एक लम्बा दुःस्वप्न बना रहता है। वास्तविक सुरक्षा स्वयं के अतिरिक्त और कहीं नहीं है, लेकिन उसे पाने के लिए सब भाँति असुरक्षित होने का साहस आवश्यक है।

मैंने उनसे एक कथा कही और कहा: "जायें और सो जायें।" और

आश्चर्य कि वे सो भी गए। दूसरे दिन उनकी आँखों में कृतज्ञता और खुशी के आँसू थे !

आज मैं सोचता हूँ तो मुझे स्वयं ही विश्वास नहीं होता। कौन-सा जादू उस कथा ने उन पर कर दिया था ? शायद मन की किसी दशा-विशेष में कोई साधारण-सी बात भी कभी असाधारण हो जाती है। जरूर ऐसा ही कुछ हुआ होगा। संभवतः तीर अनायास ही ठीक जगह लग गया था। उस रात्रि वे सो गए थे, यह तो ठीक ही है। उसके बाद उनके जीवन में भी दूसरे ही फूल खिलने लगे थे !

वह कथा क्या है ? स्वभावतः ही उसे जानने की जिज्ञासा आपकी आँखों में गहरी हो उठी है !

एक महानगरी थी। उस नगरी में एक भिक्षु का आगमन हुआ। ऐसे तो भिक्षु आते ही रहते थे। लेकिन उस भिक्षु में जरूर ही कुछ अद्‌भुत गुण था। हजारों लोगों का ताँता उसकी झोपड़ी पर लगा था। और जो भी उसके निकट जाता, वह वैसी ही सुवास और ताजगी लेकर लौटता जैसी पहाड़ी झरनों, या वनों के सन्नाटे में, या आकाश के तारों में स्वयं को खोदने पर उपलब्ध होती है। उस भिक्षु का नाम भी अजीब था : कोटिकर्ण श्रोण। संन्यास के पूर्व वह बहुत धनी था और कानों में एक करोड़ के मूल्य की बालियाँ पहनता था, इसीलिए कोटिकर्ण उसका नाम पड़ गया था। धन तो उसके पास था, लेकिन जब स्वयं की निर्धनता उसने अपने मिटती नहीं देखी तो वह निर्धन होकर धनी हो गया था ! यही वह औरों से कहता था और उसकी श्वाँस से उठ रहा संगीत उसकी गवाही था। उसकी आँखों से झर रही शांति उसकी गवाही थी। उसके शब्दों से और उसके मौन से प्रकट हो रहा आनन्द उसकी गवाही था। चित्त प्रौढ़ हो तो धन से, यश से, पद से, महत्त्वाकांक्षा से मुक्ति सहज ही हो जाती है। वे सब बालपन के खेल ही तो हैं !

भिक्षु श्रोण को देखने-सुनने हजारों व्यक्ति नगर के बाहर एकत्र हुए थे। उसकी बातें सुनने में उनका चित्त निर्वात स्थान में जलती दीपशिखा की भाँति थिर था। उस समूह में एक श्राविका कातियानी भी बैठी थी। संध्या हो चली तो उसने अपनी दासी से कहा "तू जाकर घर में दीया जला दे। मैं तो यह अमृतोपम उपदेश छोड़कर उठूंगी नहीं।" दासी घर पहुँची तो वहाँ सेंध लगी हुई थी। अंदर चोर सामान उठा रहे थे और बाहर उनका सरदार रखवाली

२४

बृहस्पति का पुत्र कच संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन कर पितृगृह लौटा था। जो भी जाना जा सकता था, वह जान कर आया था। लेकिन चित्त उसका अशांत था। वासनाएँ उसे उद्विग्न किए थीं। अहंता के उत्ताप से वह व्याकुल था। इनसे मुक्त होने ही को तो वह ज्ञान की खोज में गया था। लेकिन अशांति जहाँ की तहाँ थी और ऊपर से ज्ञान का बोझ और बढ़ गया था। यही होता ही है। शास्त्र-ज्ञान से शांति के जन्म का संबंध ही कौन-सा है? शास्त्र और शांति का नाता ही कोई नहीं है। उल्टे वैसा ज्ञान अहंता को और प्रगाढ़ कर अशांति के लिए अधखुले द्वार पूरे ही खोल देता है। लेकिन जिससे शांति ही उपलब्ध न हो, क्या उसे ज्ञान कहना भी उचित है? ज्ञान तो शांत और निर्भार करता है और जो अशांत और भारग्रस्त करता हो, क्या वह भी ज्ञान है? अज्ञान दुख है और यदि ज्ञान भी दुख है तो फिर आनन्द कहाँ है? ज्ञान ही शांति नहीं देगा तब शांति पानी असंभव ही है। सत्य के द्वार पर भी यदि शांति न मिली तो शांति मिलेगी कहाँ? फिर क्या शास्त्रों में सत्य नहीं है? कच के मन में इन्हीं प्रश्नों के झंझावात उठ रहे थे। वह बहुत चिंतित था। उसने अपने पिता से कहा: "मैं संपूर्ण शास्त्र पढ़ आया हूँ। जो भी गुरु से सीखा जा सकता था, वह सीख आया हूँ। लेकिन उससे शांति नहीं मिली। बहुत दुखी और अशांत हूँ। अब आप ही मुझे शांति का मार्ग बतावें। मैं शांति पाने के लिए क्या करूँ?" उसका निरीक्षण सम्यक् ही था। शांति न शास्त्र से मिलती है, न मिल सकती है। न ही कोई गुरु ही उसे दे सकता है। वह ऐसी वस्तु ही नहीं है कि उसे बाहर से पाया जा सके। वस्तुतः उसके आविर्भाव का अन्य के द्वारा कोई उपाय ही नहीं है।

बृहस्पति ने कच से कहा: "शांति त्याग से मिलती है।"

कच की जिज्ञासा कोरा कुतूहल-मात्र न थी। वह तो उसके प्राणों की निगूढ़तम अभीप्सा थी। उसने सब कुछ त्याग दिया। वह त्याग के ही पीछे हाथ धोकर पड़ गया। उसने मात्र लँगोटी पर रहकर वर्षों व्यतीत किए। उपवासों और भाँति-भाँति के शरीर-दमन से तप किया। वर्ष पर वर्ष बीतते गए, लेकिन

शांति के आगमन की कोई पगध्वनियाँ उसे सुनाई नहीं पड़ीं। तब उसने लँगोटी भी छोड़ दी। वह अब पूर्ण नग्न ही रहने लगा। उसने सोचा कि शायद लँगोटी का परिग्रह ही बाधा बन रहा है। अपरिग्रह तो उसका पूरा हो गया था, लेकिन शांति फिर भी अपरिचित ही थी। अंततः उसने अंतिम तैयारी की। सोचा कि शायद देह ही बाधा हो रही है। यह भी तो परिग्रह ही है। वैसे तो तप-हठ से देह सूखकर नाम को ही शेष रह गई थी। फिर भी शेष तो थी ही। उसने उसे भी अशेष करने का निर्णय किया। चिता जलाकर वह शरीर त्यागने को तैयार हो गया। किसी भी मूल्य पर हो, शांति तो उसे पानी ही थी। उसे पाने के लिए वह मृत्यु को वरण करने के लिए भी कटिबद्ध था। चिता जब धू-धू कर जलने लगी तो वह पिता से आज्ञा ले उसमें कूदने को तैयार हुआ। लेकिन बृहस्पति हँसे और उसे रोककर कहा : "पागल ! देह-त्याग से क्या होगा ? जब तक वासनाओं से भरा चित्त है, उसके प्रति अहंकार और ममता है, तब तक देह भस्म करने से भी कुछ नहीं हो सकता है। वासना सदा ही नए शरीर ग्रहण कर लेती है और अहंकार नए आवास खोज लेता है। इसीलिए देह-त्याग, त्याग ही नहीं है। चित्त का त्याग ही त्याग है। चित्त-त्याग में ही शांति है, क्योंकि चित्त से मुक्ति ही शांति है।"

उस क्षण कच तो अवाक् ही रह गया था। उसने किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर पूछा था : "लेकिन, चित्त का त्याग कैसे संभव है ?" यही प्रश्न आप मुझसे भी पूछते हैं ? जो भी शांति की खोज में है, उसकी मूलभूत समस्या यही है। जो भी सत्य या मुक्ति के अनुसंधान में है, उसकी यही तो जिज्ञासा है। यह चित्त ही तो बाधा है। यह चित्त ही तो अशांति है। यह चित्त क्या है ? क्या कुछ होने की आकांक्षा ही चित्त नहीं है। एक क्षण के लिए कृपाकर नींद से जागें और इस सत्य को देखें। क्या होने की वासना, होने की दौड़, होने की तृष्णा ही चित्त नहीं है ? यदि कुछ होने की तृष्णा न हो तो चित्त कहाँ है ? एक क्षण को भी यदि मैं वहाँ हूँ, वही हूँ जो मैं हूँ और उससे अन्यथा होने की कोई कामना मुझ में नहीं है, तो चित्त कहाँ है ? और यदि यह सत्य है तो फिर स्वयं चित्त ही शांति की या सत्य की खोज कैसे कर सकता है ? शांति की खोज में तो वही है। यह कामना भी तो उसी की है। यह कौन है जो शांत होना चाहता है ? यह कौन है जो सत्य को पाना चाहता है ? यह कौन है जो मोक्ष का अभीप्सु है ? क्या यह सब चित्त ही नहीं है ? और यदि यह सब चित्त

ही है, तो फिर चित्त से मुक्ति का उपाय क्या है ? वस्तुतः चित्त का त्याग स्वयं चित्त के ही किसी उपाय या प्रयास या साधना से नहीं हो सकता है, क्योंकि चित्त का कोई भी उपक्रम अंततः चित्त को ही समर्थ और सशक्त करता है और कर सकता है। उसकी कोई भी क्रिया उसकी ही किसी वासना का अनुकरण और अनुसंधान है। और परिणामतः यह स्वाभाविक ही है कि वह उसकी किसी भी क्रिया से स्वयं ही परिपुष्ट और सुदृढ़ हो। इसीलिए चित्त की क्रिया से ही चित्त से मुक्त होना असंभव है। चित्त स्वयं अपनी ही मृत्यु कैसे बन सकता है ? संसार की कामना में भी वही जीता है। मोक्ष की कामना में भी वही प्राण पाता है। धन में भी वही है। धर्म में भी वही है। संसार से असफल हो, निराश हो, ऊब अनुभव कर वही चित्त शांति चाहने लगता है, सत्य चाहने लगता है जो संसार को चाहता था, सुख को चाहता था। चित्त वही है क्योंकि मूलतः चाह वही है। जहाँ चाह है, वहाँ चित्त है। चाह ही भोग है। चाह ही त्याग है। इस चाह से ही समस्त त्यागों और संन्यासों का जन्म होता है ! वे सब भोगों की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। और जहाँ प्रतिक्रिया है, वहाँ मुक्ति कहाँ ? जो क्रिया जिसकी प्रतिक्रिया है, वह उससे ही बँधी है, उससे ही जन्मी है। वह उसका ही रूपान्तरण है। वह वही है। त्याग भोग ही है। संन्यास संसार ही है। भोग हो चाहे त्याग, संसार हो चाहे संन्यास, चित्त का मौलिक रूप, चित्त का केन्द्रीय संगठन दोनों में ही अक्षुण्ण बना रहता है। चित्त का प्राण चाह है। कुछ होने, कुछ पाने, कहीं पहुँचने की तृष्णा ही उसकी आधारशिला है। इसीलिए न भोग में शांति है, न त्याग में शांति है। शांति तो वहाँ है और केवल वहाँ है, जहाँ चित्त अनुपस्थित है। चित्त की उपस्थिति अशांति है। चित्त की अनुपस्थिति शांति है। चित्त जहाँ नहीं है, वहीं वह है जो वस्तुतः है। लेकिन आप पूछते हैं "यह हो कैसे ?" मित्र, यह न पूछें। क्योंकि यह चित ही पूछ रहा है। 'कैसे' की खोज उसी की है। विधियों और उपायों की खोज उसी की है। कुछ होने की खोज उसी की है। वह सदा ही पूछता है : कैसे ? यह न पूछें, बल्कि देखें कि चित के मार्ग क्या हैं। वह किन-किन मार्गों से संगठित होता है। वह किस-किस भाँति संवर्धित होता है, वह कैसे-कैसे सशक्त होता है। निश्चय ही उसके मार्ग अति-सूक्ष्म हैं। इन मार्गों के प्रति जागें। करें कुछ नहीं, बस जागें। चित्त के रूपों और रूपांतरों के प्रति सावधान और सचेत हों। चित्त को समझें। उसे उसकी

समग्रता में पहचानें। उसकी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं, उसके रागों-द्वेषों, उसकी आसक्तियों-अनासक्तियों के प्रति जागरूक हों। क्षण-क्षण उसकी स्मृति रहे। वह भूले नहीं, विस्मृत न हो। सहज ही उस पर ध्यान हो। सहज ही उस पर दृष्टि हो। बिना किसी तनाव और एकाग्रता के, पूर्ण विश्रांतिपूर्वक, उससे परिचय प्रगाढ़ हो। यह परिचय, ऐसा बोध ही, एक क्रांति लाता है। वस्तुतः यह बोध की क्रांति है। चित्त को जानते-जानते ही चित्त विलीन हो जाता है। उसे पहचानते-पहचानते ही वह नहीं पाया जाता है। क्योंकि बोध या होश वासना नहीं है। वह कुछ होने या न होने की दौड़ नहीं है। वह तो उसके प्रति जागरण है, जो है, जो हो रहा है। वासना सदा भविष्य के लिए है। बोध सदा वर्तमान में है। इसीलिए बोध का आगमन ही वासना का विसर्जन बन जाता है। चित्त का ज्ञान ही चित्त से मुक्ति है। स्मरण रहे कि यह चित्त की मुक्ति नहीं, चित्त से ही मुक्ति है। और मुक्ति के इस निर्बंध आलोक में ही वह जाना जाता है, जो परमात्मा है।

२५

सुबह से सांझ तक सैकड़ों लोगों को मैं एक दूसरे की निंदा में संलग्न देखता हूँ। हम सब कितना शीघ्र दूसरों के संबंध में निर्णय कर लेते हैं, जबकि किसी के भी संबंध में निर्णय करने से कठिन और कोई बात नहीं है। शायद परमात्मा के अतिरिक्त किसी के संबंध में निर्णय करने का कोई अधिकारी नहीं, क्योंकि एक व्यक्ति को—एक छोटे-से, साधारण-से मनुष्य को भी जानने के लिए जिस धैर्य की अपेक्षा है, वह परमात्मा के सिवा और किसमें है?

क्या हम एक दूसरे को जानते हैं? वे भी जो एक दूसरे के बहुत निकट हैं, क्या वे भी एक दूसरे को जानते हैं?

मित्र, क्या मित्र भी एक दूसरे के लिए अपरिचित और अजनबी ही नहीं बने रहते हैं?

लेकिन, हम तो अपरिचितों को भी जाँच लेते हैं और निर्णय ले लेते हैं और वह भी कितनी शीघ्रता से!

ऐसी शीघ्रता अत्यंत कुरूप होती है। लेकिन जो व्यक्ति अन्यों के संबंध में विचार करता रहता है, वह अपने संबंध में विचार करने की बात भूल ही जाता है। और ऐसी शीघ्रता निपट अज्ञान भी है, क्योंकि ज्ञान के साथ होता है धैर्य—अनन्त धैर्य।

जीवन बहुत रहस्यपूर्ण है और जो जल्दी अविचारपूर्वक निर्णय लेने के आदी हो जाते हैं, वे उसे जानने से वंचित ही रह जाते हैं।

एक घटना मैंने सुनी है। पहले महायुद्ध के समय की बात है। एक कमांडर ने अपने सैनिकों को कहा: "सैनिको, बहुत खतरनाक कार्य के लिए पाँच सैनिक चाहिए। उस कार्य में जीवन के बचने की संभावना नहीं है। इसीलिए जो स्वेच्छा से जोखिम उठाने को तैयार हों, वे अपनी पंक्ति से दो कदम आगे आवें।" वह अपनी बात पूरी कह भी नहीं पाया था कि एक घुड़सवार ने आकर उसका ध्यान बँटा लिया। वह कोई अत्यंत आवश्यक संदेश उसे देने

आया था। संदेश को लेने और पढ़ने के बाद उसने आँखें अपनी टुकड़ी के सैनिकों की ओर उठाईं। उनकी पंक्तियों को अखंड देख, वह क्रोध से भर उठा। उसकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगीं और वह चिल्लाया : "कायरो, नामर्दो, क्या एक भी मर्द तुम्हारे बीच में नहीं है ?" उसने और भी गालियाँ उन्हें दीं। दंड की धमकियाँ भी दीं, और तभी उसे ज्ञात हुआ कि एक नहीं, सारे सैनिक ही दो कदम आगे बढ़ गए थे !

यंत्र यथावत् कार्य कर रहे थे और इंजिन शोर कर रहे थे, लेकिन यान एक इंच भी आगे नहीं बढ़ रहा था। बाद में उस चालक ने कहा : "कितना विचित्र अनुभव था वह! १५० मील प्रतिघंटा की गति से भागते हुए एक इंच भी आगे न बढ़ पाना! कितनी गति से मैं जा रहा था और फिर भी कहीं नहीं जा रहा था!"

क्या ऐसा ही जीवन में भी नहीं होता है? नहीं हो रहा है?

परमात्मा की दिशा में जो नहीं चल रहे हैं, वे भी पायँगे कि चल तो बहुत रहे हैं, लेकिन पहुँच कहीं भी नहीं रहे हैं।

परमात्मा यानी स्वयं की आत्यंतिक सत्ता। परमात्मा यानी स्वरूप।

और, क्या यह ठीक ही नहीं है कि स्वयं के विरोध में चलकर कोई कहीं कैसे पहुँच सकता है?

जीवन का आनन्द उनका है, जो स्वयं में जीते और स्वयं को जानते और स्वयं को उपलब्ध करते हैं।

मित्रो ! मैं क्या सिखाता हूँ। एक छोटा-सा राज मैं सिखाता हूँ। संसार में सम्राट् बनने का राज मैं सिखाता हूँ।

और इस छोटे-से राज से बड़ा राज और क्या हो सकता है ?

लेकिन, शायद तुम कहो कि संसार में सभी सम्राट् कैसे हो सकते हैं ? मैं कहता हूँ : "हो सकते हैं। एक ऐसा साम्राज्य भी है, जहाँ सभी सम्राट् हो सकते हैं !"

लेकिन, जिस संसार को हम जानते हैं, वहाँ तो सभी गुलाम हैं। वहाँ तो वे भी गुलाम हैं, जो स्वयं को सम्राट् समझने के भ्रम में हैं !

एक जगत मनुष्य के बाहर है। एक जगत मनुष्य के भीतर भी है। बाहर के जगत में कोई कभी सम्राट् नहीं हो सका। हालांकि अधिकतम लोगों ने उसके लिए संघर्ष किया है।

शायद तुम भी उसी संघर्ष में हो। उसी प्रतियोगिता में। तुम्हारी दौड़ भी शायद उसी के लिए है।

लेकिन जिसे सम्राट् होना हो, उसे संसार को नहीं, स्वयं को ही जीतना पड़ता है।

क्राइस्ट ने कहा : "परमात्मा का साम्राज्य तुम्हारे भीतर ही है।"

क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जिन्होंने बाहर के राज्य को जीता है, उन्होंने स्वयं को खो दिया ? और जो स्वयं को ही खो दे, वह सम्राट् कैसे होगा ? सम्राट् होने के लिए कम से कम स्वयं होना तो अनिवार्य ही है।

नहीं, नहीं। बाहर का द्वार और भी दरिद्रता में ले जाता है। उस जगत में जो सम्राट् बने दीखते हैं, वे अपने गुलामों के भी गुलाम होते हैं।

और, वासनाएँ, तृष्णाएँ, कामनाएँ मुक्त नहीं करतीं, वरन् सूक्ष्म से सूक्ष्म और सख्त से सख्त बंधनों में बाँध देती हैं।

वासना की जंजीरों से सुदृढ़ जंजीरें न तो अब तक बन सकी हैं और न आगे ही बन सकती हैं। असल में उतना मजबूत फौलाद कोई और होना ही नहीं। इन अदृश्य जंजीरों से बँधा व्यक्ति सम्राट् कैसे हो सकता है ?

एक सम्राट् था : प्रशिया का फ्रेड्रिक महान। एक संध्या राजधानी के बाहर एक बूढ़े आदमी से उसे धक्का लग गया। सकरी पगडंडी थी और सांझ का अंधेरा भी घिर रहा था। फ्रेड्रिक ने क्रोध से उस बूढ़े से पूछा : "आप कौन हैं?" उस वृद्ध ने कहा : "एक सम्राट्।" फ्रेड्रिक ने साश्चर्य कहा : "सम्राट्?" और फिर मजाक में पूछा : "किस देश पर आपका राज्य है?" उस बूढ़े ने कहा : "स्वयं पर।"

निश्चय ही जिनका स्वयं पर राज्य है, वे ही सम्राट् हैं।

२८

धर्म के प्रति उपेक्षा क्यों है ?

और यह उपेक्षा रोज ही बढ़ती क्यों जाती है ?

एक कथा मैंने सुनी है : एक गाँव था। बहुत भोले-भाले उसके निवासी थे। जो जैसा कहता, वैसी ही बात वे मान लेते थे। उनके गाँव के बाहर भगवान की एक मूर्ति थी। एक महात्मा वहाँ आए। उन्होंने उन सबको एकत्र किया और कहा : "अनर्थ ! अनर्थ ! राम—राम ! मूर्खो, तुम छाया में रहते हो और भगवान धूप में ? भगवान के सिर पर छाया करो। देखते नहीं, भगवान कितने क्रुद्ध हो रहे हैं ?" गाँव के लोग बहुत गरीब थे। किसी भाँति अपने छप्परों को छोटा कर उन्होंने भगवान के लिए छप्पर बनाया। छप्पर डलवाकर महात्मा दूसरे गाँव चले गए। उन्हें कोई एक ही गाँव तो था नहीं। बहुत गाँव थे। बहुत भगवान थे। और सबके लिए छप्पर डलवाने की जिम्मेवारी उन्हीं के ऊपर थी। फिर थोड़े दिनों के बाद उस गाँव में एक दूसरे महात्मा आए। भगवान के ऊपर छप्पर देखते ही दुखी हो गए। गाँववालों को इकट्ठा किया और उन पर बहुत नाराज हुए। बोले "सीताराम, सीताराम, अनर्थ हो गया। मूर्खो ! भगवान के ऊपर छप्पर ? क्या उन्हें तुम्हारे छप्पर की आवश्यकता है ? कहीं आग लग जाय तो सब स्वाहा। अभी उतारकर फेंको !" गाँववाले हैरान हुए। लेकिन, अब करते भी तो क्या करते ? महात्मा जो कहते हैं सो सदा ठीक ही कहते हैं। उनकी न मानो तो अभिशाप से जन्म-जन्मों तक दुख दे सकते हैं और नर्क में भी सड़ा सकते हैं। भगवान तो उन्हीं के हाथ में है, जैसा चाहें, वैसा करा लेते हैं। उन बेचारों को छप्पर उतारकर फेंक देना पड़ा। बहुत दिनों का श्रम, शक्ति और दरिद्रों का धन व्यर्थ ही बरबाद हुआ, सो हुआ, लेकिन भगवान पर छप्पर डालने के कलंक से बच जाना ही क्या कम सौभाग्य था ! महात्मा छप्पर निकलवाकर दूसरे गाँव चले गए। उन्हें कोई एक ही गाँव तो था नहीं। बहुत गाँव थे। बहुत भगवान थे। और उन सबको छप्परों से मुक्त करवाने की जिम्मेवारी उन्हीं की थी ! लेकिन थोड़े ही समय बाद फिर एक महात्मा का आगमन उस गाँव में हुआ। पर

इस बार गाँववाले सचेत थे और भूलकर भी भगवान की मूर्ति की ओर नहीं जाते थे। पता नहीं अब कौन-सा बखेड़ा खड़ा हो जाय? उन्होंने उस मार्ग पर ही आना-जाना बंद कर दिया था!

मैं देखता हूँ कि जो उस गाँव में हुआ था, वही करीब-करीब पूरे संसार में हो गया है। महात्माओं ने धर्म के नाम पर ऐसी-ऐसी बेहूदी बातें करवाई हैं और ऐसे-ऐसे भय लोक-मानस में बिठाये हैं कि यदि लोगों ने भगवान के रास्ते पर ही आना बंद कर दिया है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

धर्म की उपेक्षा तथाकथित महात्माओं द्वारा फैलाए गए आतंकों और अंधविश्वासों की उपेक्षा है।

धर्म की उपेक्षा, धर्म की आड़ में चल रहे शोषण, पाखंड, और जड़ता की उपेक्षा है।

धर्म की उपेक्षा धर्म के झूठे पूरक बने संप्रदायों और उनके द्वारा फैलाई गई घृणा, वैमनस्य और शत्रुता की उपेक्षा है।

धर्म की उपेक्षा धर्म की उपेक्षा नहीं, वस्तुतः उनकी उपेक्षा है जो धर्म नहीं है।

२९

एक सम्राट् के वड़े वजीर की मृत्यु हो गई थी। उसके समक्ष राज्य के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्ति को चुनकर वजीर वनाने का जटिल सवाल था। फिर अनेक प्रकार की परीक्षाओं के द्वारा अंततः तीन व्यक्ति चुने गए। अब उन तीन में से भी एक को चुना जाना था। उसकी निर्णयात्मक-परीक्षा के एक दिन पूर्व ही यह अफवाह उड़ा दी गई थी कि सम्राट् उन्हें एक ऐसे कक्ष में बंद करने को है, जिसके द्वार पर राज्य के कुशलतम यांत्रिकों द्वारा निर्मित एक ऐसा अद्‌भुत ताला लगा हुआ है, जिसे जो गणित में सर्वाधिक प्रतिभाशाली होगा, केवल वही खोलने में समर्थ हो सकता है। उस रात्रि उन तीन व्यक्तियों में से दो तो चिन्ता और उत्तेजना के कारण सो ही नहीं सके। वे रात्रिभर तालों के संवंध में लिखे गए शास्त्रों को पढ़ते रहे और गणित के नियमों और सूत्रों को समझते रहे। सुवह तक तो वे गणित से इतने ज्यादा भर गए थे कि दो-दो जोड़ना भी शायद उनसे संभव नहीं होता! राजमहल जाते समय उन्होंने गणित की कुछ पुस्तकें भी अपने वस्त्रों में छिपा ली थीं, जिनकी किसी भी समय आवश्यकता पड़ सकती थी। अपनी दृष्टि में वे सब भाँति तैयार थे, यद्यपि शास्त्रों के साथ रात्रि-जागरण करने के कारण उनके मन ठिकाने नहीं थे और उनके पैर ऐसे पड़ रहे थे जैसे वे नशे में हों। शास्त्रों और ज्ञान का भी नशा तो होता ही है। लेकिन उन दो को वह तीसरा व्यक्ति निश्चय ही पागल मालूम हो रहा था, जो रात्रि भर शांति से सोया रहा था। उसकी निश्चितता सिवा पागलपन के और किस वात की द्योतक हो सकती थी? वे दोनों रात्रि में भी उसके ऊपर हँसते रहे थे और अब भी उसकी नासमझी पर हँस रहे थे। राजमहल पहुँचकर उन्हें ज्ञात हुआ कि निश्चय ही वह अफवाह सच थी। वहाँ पहुँचते ही उन्हें एक विशाल कक्ष में बंद कर दिया गया, जिसके द्वार पर वह वहुचर्चित ताला लगा हुआ था, जो उस समय की यांत्रिक प्रतिभा का अन्यतम आविष्कार था। उस ताले को गणित के आधार पर निर्मित किया गया था और वह एक अत्यंत कठिन पहेली की भाँति था, जिसे गणित के द्वारा ही हल भी किया जा सकता था। ये सब वातें अफवाहों

से भी ज्ञात थीं और उस ताले पर बने गणित-अंक और चिह्न भी इन्हीं की घोषणा कर रहे थे। उन तीनों व्यक्तियों को कक्ष में बंद कर सम्राट् के निर्णय से अवगत करा दिया गया कि जो भी व्यक्ति उस कक्ष के ताले को खोलकर सबसे पहले बाहर निकलने में समर्थ होगा, उसे ही महामंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया जायगा। वे दोनों व्यक्ति शीघ्र ही ताले पर बने चिह्नों का अध्ययन कर गणित के अंकों से जूझने में लग गए। वे बीच-बीच में साथ में लाए शास्त्रों को भी देखते जाते थे। सर्दी की ऋतु थी और कक्ष के बड़े-बड़े झरोखों से सुबह की शीतल वायु भी भीतर आ रही थी। लेकिन उनके माथों से पसीने की धारें बह रही थीं। थोड़ा था समय, और उस ताले को खोलने की कठिन समस्या थी। शीघ्र ही उनके जीवन का भाग्यनिर्णय होनेवाला था। इससे उनकी बेचैनी और घबड़ाहट स्वाभाविक ही थी। उनके हाथ काँप रहे थे और स्वाँस बढ़ गई थी। वे लिखते कुछ थे और लिखा कुछ जाता था! लेकिन जो व्यक्ति रात भर सोया रहा था, उसने न तो ताले का ही अध्ययन किया और न कलम ही उठाई और न कोई गणित ही हल किया। वह तो शांति से आँखें बंद किए बैठा था। उसके चेहरे पर न कोई चिन्ता थी, न उत्तेजना थी। उसे देखकर ऐसा भी नहीं लगता था कि वह कुछ सोच रहा है। उसके भाव और विचार निर्वात् गृह में स्थिर दीपशिखा की भाँति मालूम होते थे। वह था एकदम शांत, मौन और शून्य। वह अचानक उठा और अत्यंत सहज और शांत भाव से धीरे-धीरे कक्ष के द्वार के पास पहुँचा। उसने अत्यंत आहिस्ते से द्वार का हत्था घुमाया और आश्चर्य कि द्वार उसके छूते ही खुल गया! वह खुला हुआ ही था! वह ताला और उसकी सारी कथा धोखा थी! लेकिन उसके जो दो मित्र गणित की पहेलियाँ बूझ रहे थे, उन्हें इसका कुछ भी पता नहीं चला। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं था कि उनका एक साथी अब भीतर नहीं है। यह चौंकानेवाला सत्य तो उन्होंने तभी जाना जब सम्राट् द्वार के भीतर आया और उसने उनसे कहा : "महानुभावो, अब ये गणित बन्द करो। जिसे निकलना था, वह निकल चुका है!" वे बेचारे तो अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं कर पा रहे थे! उनका वह सब भाँति अयोग्य साथी सम्राट् के पीछे खड़ा था! सम्राट् ने उन्हें अवाक् देखकर यह भी कहा था : "जीवन में भी सबसे पहले यही महत्त्वपूर्ण है कि देखा जाय कि समस्या वस्तुतः है भी या नहीं? ताला बंद भी है या नहीं? जो समस्या को ही नहीं खोजता और

समाधान करने लग जाता है, वह स्वभावतः ही भूल में पड़ता है और सदा के लिए भटक जाता है।"

यह कथा अद्‌भुत रूप से सत्य है।

परमात्मा के संबंध में भी मैंने यही पाया है। उसका द्वार भी सदा से ही खुला हुआ है और उस पर लगे तालों की सब अफवाहें एकदम असत्य हैं। लेकिन उसके द्वार से प्रवेश पाने के लिए उत्सुक उम्मीदवार उन तालों के भय से शास्त्रों को साथ बाँध लेते हैं। फिर ये शास्त्र और सिद्धान्त ही उनके लिए ताले बन जाते हैं। फिर वे उसके द्वार के बाहर ही बैठे रह जाते हैं, क्योंकि जब तक वे शास्त्रों की गणित-पहेलियों को हल न कर लें, तब तक प्रवेश संभव ही कैसे है? मुश्किल से ही कोई कभी इतना दुस्साहस करता है कि बिना शास्त्रों के ही उसके द्वार पर पहुँच जाता हो। मैं ऐसे ही पहुँच गया था। पहुँचकर देखा कि जहाँ तक आँखें देख सकती थीं, वहाँ तक पंडितगण अपने-अपने शास्त्रों के ढेर में दबे बैठे हुए थे और कुछ सवालों के हल करने में इस भाँति तल्लीन थे कि मुझ अपात्र का वहाँ पहुँच जाना भी उन्हें ज्ञात नहीं हुआ था। मैं तो गया और उसके द्वार का हत्था घुमाया और पाया कि वह तो खुला ही हुआ है! पहले तो यही समझा कि मेरे भाग्य से जरूर ही द्वारपालों से कोई भूल हो गई है! अन्यथा यह कैसे संभव था कि जो शास्त्र न जाने, सिद्धान्त न जाने, वह सत्य के जगत में प्रवेश पा ले? और मैं डरा-डरा ही भीतर प्रविष्ट हुआ था। लेकिन जो वहाँ पहले से ही प्रविष्ट हो गए थे, उन्होंने बताया कि परमात्मा के द्वार बंद होने की खबर तो शैतान के द्वारा फैलाई गई निरी झूठी अफवाह है। उसके द्वार तो सदा से ही खुले हुए हैं! प्रेम के द्वार भी क्या बंद हो सकते हैं? सत्य के द्वार भी क्या बंद हो सकते हैं?

योजन दूर लोकालोक पर्वत पर निर्भय हो विचरण कर रहा है। मैं उसे अभी-अभी वहाँ छोड़कर लौटा हूँ!" यह सुन यमराज खूब हँसने लगे और बोले : "तो आपने उसे आखिर वहाँ पहुँचा ही दिया ? मैं यही सोचकर और उसे यहाँ देख विस्मित हुआ कि वह यहाँ कैसे ? उसे तो थोड़े ही क्षणों बाद लोकालोक पर्वत पर मृत्यु के मुँह में जाना है!"

तो वहाँ था नहीं ! थे कैवान। उन्होंने उस व्यक्ति से कहा : "तुमने ठीक सोचा है।" वह व्यक्ति प्रसन्न होकर चला गया। फिर कुछ दिनों बाद आया और बोला : "मैं अभी गुदड़ी और फकीरी पोशाक बना रहा हूँ। सरो-सामान तैयार होते ही फकीर हो जाना है।" किन्तु इस बार कैवान भी न कह सके कि तुमने ठीक सोचा है ! उन्होंने कहा : "मित्र, सरो-सामान छोड़ने के लिए ही कोई दरवेश होता है और तू उसी को जुटाने के लिए परेशान है ! जा अपनी दुनियाँ में लौट जा, तू अभी फकीरी के काबिल नहीं है।"

३२

मैं परमात्मा की प्रार्थना के लिए तुम्हें मंदिरों में जाते देखता हूँ तो सोचता हूँ कि क्या परमात्मा केवल मंदिरों में ही है ! क्योंकि मंदिरों के बाहर न तो तुम्हारी आँखों में पवित्रता की झलक होती है और न तुम्हारी श्वासों में प्रार्थनाओं की ध्वनि। मंदिरों के बाहर तो तुम ठीक वैसे ही होते हो, जैसे वे लोग जो कभी भी मंदिरों में नहीं गए हैं ? क्या इससे तुम्हारा मंदिरों में जाना व्यर्थ सिद्ध नहीं हो जाता है ? क्या यह संभव है कि मंदिर की सीढ़ियों के बाहर तुम कठोर और भीतर करुण हो जाते होगे ? क्या यह विश्वासयोग्य है कि मंदिरों के द्वारों में प्रविष्ट होते ही हिंसक चित्त प्रेम से भर जाते हों ? जिन हृदयों में सर्व के प्रति प्रेम नहीं है, उनमें परमात्मा के प्रति प्रार्थनाओं का जन्म ही कैसे हो सकता है ?

जीवन ही जिसका प्रेम नहीं है, उस जीवन में प्रार्थना असंभव है।

और कण-कण में ही जिसके लिए परमात्मा नहीं है, उसके लिए कहीं भी परमात्मा नहीं हो सकता है।

एक रात्रि की घटना है। कोई अजनबी यात्री मक्का के मंदिर में थका-माँदा पहुँचा है और सो गया है। उसके अपवित्र पैर काबा के पवित्र पत्थर की ओर देखकर पुरोहित क्रोध से भर जाते हैं। वे उसके पैरों को पकड़कर घसीटते हैं और कहते हैं : "यह तुमने कैसा अपराध किया ? पवित्र पत्थर के मंदिर का अपमान करने का साहस ? यह सोने का ढंग है ? परमात्मा के मंदिर की ओर पैर तो निश्चय ही कोई नास्तिक ही कर सकता है !" उनकी क्रोध-भरी मुद्राएँ देखकर और उनके अपमान भरे कटुवचन सुनकर भी वह यात्री हँसने लगता है और कहता है : "मेरे प्यारे, मैं तो वहीं पैर कर लूं जहाँ परमात्मा न हो ! आप कृपा करें और मेरे पैर वहीं कर दें ? मैं स्वयं तो उसके मंदिर को सभी ओर और सभी दिशाओं में पाता हूँ।" ये अजनबी यात्री थे नानक। उन्होंने जो कहा वह कितना सत्य है। परमात्मा निश्चय ही सब ओर है। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या पैरों में भी वही नहीं है ? वही तो है। उसके सिवा और क्या है ? अस्तित्व—समग्र अस्तित्व—ही तो वह है। लेकिन मंदिरों में, मूर्तियों में, तीर्थों में उसे देखनेवाली आँखें अक्सर ही उसे उसकी समग्रता में देखने में अंधी हो जाती हैं।

३३

मैं एक दिन एक वन में था। वर्षा के दिन थे और वृक्षों से आनन्द फूटा पड़ता था। जो साथ थे उनसे मैंने कहा : "देखते हो वृक्ष, कितने आनंदित हैं! क्यों? क्योंकि जो जो है, वह वही हो गया है। बीज हो कुछ, और वृक्ष कुछ और होना चाहे तो फिर वन में इतना आनन्द न रहे। वृक्षों को आदर्शों का कुछ पता नहीं, इसीलिए उनकी प्रकृति ने जो चाहा है, वे वही हो गए हैं। और धन्यता वहीं है, जहाँ स्वरूप और स्वभाव के अनुकूल विकास है। मनुष्य पीड़ा में है, क्योंकि मनुष्य स्वयं के ही विरोध में है। वह अपनी जड़ों से ही लड़ता है और वह जो है, सदा उससे अन्य होने के संघर्ष में लगा रहता है। इस प्रकार वह स्वयं को तो खोता ही है, उस स्वर्ग को भी खो देता है जो सबका स्वरूपसिद्ध अधिकार है।"

मित्र, क्या यह उचित नहीं है कि तुम वही होना चाहो जो तुम हो सकते हो? क्या यह उचित नहीं है कि तुम स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी होने के सारे प्रयत्न छोड़ दो? क्या उस वासना में ही सारे दुखों का मूलस्रोत नहीं है? स्वयं से अन्य होने की वासना मे असंभव और अर्थहीन क्या कोई और चेष्टा है? प्रत्येक वही हो सकता है जो हो सकता है। बीज में ही वृक्ष का पूरा होना छिपा होता है, अन्यथा होने की आकांक्षा विफलता ही ला सकती है। विफलता इसीलिए क्योंकि जो पूर्व से ही स्वयं में छिपा नहीं है, वह प्रकट कैसे होगा? जीवन तो उसकी ही अभिव्यक्ति है जो जन्म में ढँका और अप्रकट होता है। विकास मात्र अनावरण है। और जहाँ अप्रकट प्रकट नहीं हो पाता, वहीं पीड़ा का आविर्भाव हो जाता है। जैसे कोई भी माँ अपने बच्चे को जीवन भर गर्भ में ही लिये रहे तो असह्य और अवर्णनीय पीड़ा में पड़ जायगी, वैसे ही वे लोग दुख में पड़ जाते हैं, जो वह नहीं हो पाते जो होना उनकी नियति था। लेकिन मैं तो प्रत्येक को ऐसी ही दौड़ में देखता हूँ। सभी वह होना चाहते हैं जो वे नहीं हैं, और नहीं हो सकते हैं। अंततः परिणाम क्या होता है? परिणाम होता है कि वे जो हो सकते थे, वही नहीं हो पाते हैं। व्यक्ति जो नहीं हो सकता, वह तो नहीं हो ही सकता है, किन्तु जो हो सकता था, उससे

वंचित अवश्य रह जा सकता है।

आदिवासियों का एक राजा पहली बार किसी बड़े शहर में गया था। वह अपना चित्र उतरवाना चाहता था। उसे एक स्टूडियो में ले जाया गया। उस फोटोग्राफर ने अपने द्वार पर एक तख्ती लगा रखी थी। उस पर लिखा हुआ था : "मन-पसंद चित्र उतरवाएँ। जैसे आप हैं :— १० रु०; जैसे आप सोचते हैं कि आप हैं :— १५ रु; जैसे आप दूसरों को दिखाना चाहते हैं :— २० रु०; और जैसे आप सोचते हैं कि आप होते :—२५ रु०।" वह सीधा-सादा राजा इससे बहुत हैरान हुआ और पूछने लगा कि क्या पहले चित्र के अतिरिक्त दूसरे चित्रों को उतरवानेवाले व्यक्ति भी यहाँ आते हैं ? उसे बतलाया गया कि पहले चित्र को उतरवाने वाला व्यक्ति तो आज तक यहाँ नहीं आया है।

क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आपने कौन-सा चित्र उस फोटोग्राफर से उतरवाना पसंद किया होता ? आपका मन क्या कहता है ? क्या अंतिम चित्र की कामना को आप स्वयं में नहीं पकड़ पाते हैं ? हाँ, पास में उतने पैसे न हों तो बात दूसरी है ! मजबूरी की बात और है, अन्यथा पहले चित्र को उतरवाना कौन पसंद करेगा ? लेकिन उस गँवार राजा ने पहला चित्र ही उतरवाया था और कहा था : "मैं किसी और का नहीं, अपना ही चित्र उतरवाने यहाँ आया हूँ।"

जीवन के द्वार पर भी ऐसी ही तख्ती सदा से लगी हुई है। मनुष्य बनाने के बहुत पहले ही ईश्वर ने उसे वहाँ टाँग दिया था !

संसार में जो भी पाखंड है, वह स्वयं से अन्य होने की रुग्ण वासना से ही पैदा होता है। जब स्वयं से अन्य होने में विफलता हाथ आती है तो व्यक्ति फिर स्वयं से अन्य दीखने में ही संलग्न हो जाता है। क्या यही पाखंड नहीं है ? और यदि वह इसमें भी सफल न हो सका तो फिर विक्षिप्त हो जाता है। तब वह स्वयं को जो भी और जैसा भी मानना चाहता है, वैसा मानने को मुक्त होता है ! लेकिन पाखंड हो या पागलपन—दोनों की उत्पत्ति स्वयं को अस्वीकार करने से ही होती है। स्वस्थ व्यक्ति का पहला लक्षण स्वयं की स्वीकृति है। जीवन में वह अपना ही चित्र उतरवाने आता है, किसी और का नहीं ! अन्यों के ढांचों में स्वयं को ढालने के सब प्रयास अस्वस्थ चित्त की सूचनाएँ हैं। मनुष्य को सिखाए गए तथाकथित आदर्श और दूसरों के अनुकरण के लिए दी गई प्रेरणाएँ उसे स्वयं को स्वीकार ही नहीं करने देतीं और तब

उसकी यात्रा प्रारंभ से ही गलत दिशा में गतिमान हो जाती है। इस भाँति की सभ्यता ने मनुष्य को एक महारोग की भाँति जकड़ लिया है। मनुष्य कितना कुरूप और अपंग हो गया है? उसमें कुछ भी स्वस्थ और सहज नहीं है। क्यों? क्योंकि संस्कृति, सभ्यता और शिक्षा के नाम पर उसकी प्रकृति की निरंतर हत्या की गई है। इस षड्यंत्र से यदि मनुष्य सजग न हुआ तो वह आमूलतः ही नष्ट हो सकता है। संस्कृति की हत्या नहीं है। वह तो उसका ही विकास है। संस्कृति प्रकृति का विरोध नहीं, विकास है। मानव का भविष्य किसी बाह्य आदर्श से नहीं, वरन् अंतरस्थ प्रकृति से ही निर्धारित हो सकता है। और तब एक ऐसे सहज और आंतरिक अनुशासन का जन्म होता है, जो स्वरूप को उस सीमा तक खोलता और उघाड़ता है, जहाँ सत्य का साक्षात् हो सके। इसलिए मैं कहता हूँ: स्वयं को चुनें। स्वयं को स्वीकारें। स्वयं को खोजें और विकसित करें। स्वयं के अतिरिक्त कोई अन्य न किसी का आदर्श है, न हो सकता है। अनुकरण आत्मघात है। और स्मरण रखें कि परतंत्रता में परमात्मा कभी भी नहीं पाया जा सकता है।

३४

सुबह-सुबह ही एक मित्र आए। उनकी आँखों में क्रोध और घृणा की लपटें थीं। किसी के प्रति बहुत ही तीखे और विषाक्त अग्नि-उद्‌गार प्रकट कर रहे थे। शांति से मैंने उनकी बातें सुनीं और उनसे कहा : क्या आपने एक घटना सुनी है ? वे तो कुछ भी सुनने की स्थिति में नहीं थे। फिर भी बोले : "कौन-सी घटना ?" मैं हँसने लगा तो वे कुछ शिथिल हुए। फिर मैंने उनसे कहा : "एक मनोचिकित्सक प्रेम और घृणा पर शोध कर रहा था। उसने विश्वविद्यालय की एक कक्षा के १५ विद्यार्थियों से कहा कि वे शेष युवकों में से जिन्हें भी घृणित पाते हों, ३० सेकेन्ड में उनके नामों के प्रथमाक्षरों को लिख दें। एक युवक किसी का भी नाम नहीं लिख सका। कुछ ने कुछ नाम लिखे। एक ने अधिकतम अर्थात् १३ नाम लिखे। इस प्रयोग से जो तथ्य सामने आया वह बहुत आश्चर्यजनक था। जिन युवकों ने अधिकतम व्यक्तियों को घृणित माना था, वे स्वयं भी अधिकतम व्यक्तियों द्वारा घृणित माने गए थे। और सबसे अद्भुत और रहस्य की बात तो यह थी कि जिस युवक ने किसी का भी नाम नहीं लिखा था, उसका नाम भी किसी ने नहीं लिखा था !"

जीवन-पथ पर मनुष्य जिनसे मिलता है, वे अक्सर दर्पण ही सिद्ध होते हैं। क्या हम स्वयं को ही अन्यों में नहीं आंक लेते हैं ? स्वयं में घृणा हो तभी अन्यों में घृणित के दर्शन होते हैं। वह घृणा ही घृणित का निर्माण और आविष्कार करती है। यह निर्माण और आविष्कार भी निष्प्रयोजन नहीं है। इस भाँति व्यक्ति स्वयं में जो घृणित है, उसके साक्षात् की पीड़ा से बच जाता है। दूसरों में राई का पर्वत बनाकर देखने से स्वयं में जो पर्वत की भाँति है, वह राई-जैसा प्रतीत होने लगता है। स्वयं के कानेपन की पीड़ा से बचने के दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी ही एक आँख ठीक की जाय या दूसरों की दोनों ही आँखें फूटी मान ली जायँ ! निश्चय ही दूसरा मार्ग ही सुगम मालूम होता है, क्योंकि उसमें कुछ करना नहीं है, बस मान लेना ही पर्याप्त है !

स्मरण रहे कि जब भी दूसरों से हम मिलें तो उन्हें दर्पण ही समझें और जो हमें उनमें दिखाई पड़े, उसे सर्वप्रथम स्वयं में ही खोजें। इस भाँति दैनंदिन

संबंधों के दर्पण में ही व्यक्ति आत्मानुसंधान में संलग्न हो जाता है। संसार और उसके संबंधों को छोड़कर भागना कायरता तो है ही, व्यर्थ भी है। उचित तो यही है कि उन संबंधों को हम स्वयं की खोज का अवसर बनावें। उनके अभाव में स्वयं को खोजना वैसे ही असंभव है, जैसे दर्पण के अभाव में स्वयं के ही दर्शन करना असंभव है। दूसरों के रूप में हम निरंतर स्वयं से ही मिलते रहते हैं। जो हृदय प्रेम से भर जाता है, वह सब में प्रेम के दर्शन करता है। अंततः इसी अनुभूति की पूर्णता परमात्मा का साक्षात् बन जाती है। इसी पृथ्वी पर ऐसे लोग हैं जो नर्क में हैं और ऐसे लोग भी हैं जो स्वर्ग में हैं। दुख और सुख, नर्क और स्वर्ग का मूल स्रोत हमारे भीतर है और जो भीतर है, वही बाह्य के पर्दे पर प्रक्षेपित हो जाता है। मनुष्य की ही आँखें हैं, जो जगत में पदार्थ और मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देखतीं और मनुष्य की ही आँखें हैं जो जगत में परमात्मा के अमित सौन्दर्य और संगीत को भी अनुभव करती हैं। इसलिए, जो बाहर प्रतीत होता है, वह नहीं, वरन् जो भीतर उपस्थित है, वही जीवन में मौलिक और आधारभूत है। इस सत्य पर सतत जिनकी दृष्टि है, वे बाह्य से मुक्त हो अंतरस्थ में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सुख और दुःख में, घृणा और प्रेम में, मित्र और शत्रु में, जो इस मूलस्रोत पर ध्यान रखते हैं वे अंततः पाते हैं कि मेरे स्वयं के अतिरिक्त न कोई सुख है, न दुख; न कोई शत्रु है, न मित्र। मैं ही अपना शत्रु हूँ और मैं ही अपना मित्र हूँ।

३५

मैं पहाड़ों में था। कुछ मित्र साथ थे। एक दिन हम एक ऐसी घाटी में गए, जहां पहाड़ियां बहुत स्पष्ट प्रतिध्वनि करती थीं। एक मित्र ने कुत्ते की आवाज की तो पहाड़ में कुत्ते बोलने लगे और फिर किसी ने कोयल की आवाज की तो घाटी कुहू-कुहू से गूंजने लगी। मैंने कहा : "संसार भी ऐसा ही है। उसकी ओर हम जो फेंकते हैं, वही हम पर वापस लौट आता है। फूल फूल ले आते हैं और कांटे कांटे। प्रेमपूर्ण हृदय के लिए सारा जगत प्रेम की वर्षा करने लगता है और घृणा से भरे व्यक्ति के लिए सब ओर पीड़ादायी लपटें जलने लगती हैं।"

फिर मैंने उन मित्रों से एक कहानी कही : एक छोटा-सा लड़का पहली बार अपने गांव के पास के जंगल में गया था। वह एकांत से भयभीत और बहुत चौकन्ना था। तभी उसे झाड़ियों में कुछ सरसराहट सुनाई पड़ी। निश्चय ही कोई व्यक्ति छिपा हुआ उसका पीछा कर रहा था। उसने जोर से चिल्लाकर पूछा : "कौन है ?" और भी जोर से पहाड़ियों ने पूछा : "कौन है ?" अब तो किसी के छिपे होने का उसे पूर्ण निश्चय हो गया। भयभीत तो वह वैसे ही था। उसके हाथ-पैर कांपने लगे और हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा। लेकिन स्वयं को साहस देने के लिए उसने छिपे हुए आदमी से कहा : "डरपोक !" प्रतिध्वनि हुई : "डरपोक !" अंतिम बार उसने शक्ति जुटाई और चिल्लाया : "मैं मार डालूंगा !" पहाड़ और जंगल भी जोर से चिल्लाए : "मैं मार डालूंगा !" तब वह लड़का सिर पर पैर रखकर गांव की ओर भागा। उसके ही पैरों की प्रतिध्वनि उसे ऐसी लगती थी जैसे वह आदमी उसका पीछा कर रहा है। अब उसमें लौटकर देखने का भी साहस नहीं था। वह घर के द्वार पर जाकर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। होश में आने पर सारी बात पता चली। सुनकर उसकी मां खूब हँसी और बोली—"कल फिर वहीं जाना और जो मैं बताऊँ वह उस रहस्यमय व्यक्ति से कहना। मैं तो उससे भली-भांति परिचित हूँ। वह तो बहुत ही भला और प्यारा आदमी है।" वह लड़का कल फिर वहीं गया। उसने जाकर कहा : "मेरे मित्र !" प्रतिध्वनि हुई : "मेरे मित्र।" इस

मैत्रीपूर्ण ध्वनि ने उसे आश्वस्त किया। उसने कहा : "मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ !" पहाड़ों ने, जंगलों ने, सभी ने दुहराया : "मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ !"

क्या प्रतिध्वनि की कथा ही हमारे तथाकथित जीवन की कथा नहीं है ?।

और क्या हम सब संसार के जंगल में ऐसे बाल अजनबी ही नहीं हैं, जो अपनी ही प्रतिध्वनियों को सुनते हैं, भयभीत होते हैं और भागते हैं ?

क्या सच ही स्थिति ऐसी ही नहीं है ?

लेकिन स्मरण रहे कि "मैं मार डालूँगा !" यह प्रतिध्वनि है, तो मैं "तुम्हें प्रेम करता हूँ !" यह भी प्रतिध्वनि ही है। पहली प्रतिध्वनि से मुक्त होकर दूसरी के प्रेम में पड़ जाना बालपन से छुटकारा नहीं है। कुछ पहली प्रतिध्वनि से भयभीत होते हैं, कुछ दूसरी प्रतिध्वनि में मोहग्रस्त। लेकिन बुनियादी रूप से उन दोनों में कोई भेद नहीं है। अप्रौढ़ता दोनों में ही छिपी है। जो जानता है, वह दोनों भ्रमों से मुक्त होकर जीता है। जीवन का सत्य प्रतिध्वनियों में नहीं, वरन् स्वयं में ही अंतर्निहित है।

३६

मैं सोकर उठा ही था कि खबर मिली कि पड़ोस में किसी की हत्या कर दी गई है। सभी उस चर्चा में व्यस्त हैं। वातावरण में सनसनी है और लोगों की सदा फीकी बनी रहनेवाली आँखों में भी चमक है। न तो किसी को दुख है, न सहानुभूति, बस एक रुग्ण और गर्हित रस ही दिखाई पड़ता है। मृत्यु और हत्या भी क्या सुख देती है? विनाश भी क्या सुख लाता है? लाता ही होगा, नहीं तो युद्धों में जन-मन का इतना उत्साह नहीं हो सकता था।

जीवन-ऊर्जा जब सृजन की राह पर गतिशील नहीं हो पाती है, तो वही अनायास ही विध्वंश में संलग्न हो जाती है। फिर उसकी अभिव्यक्ति के लिए विनाश ही विकल्प है। जो स्वयं को सृजनात्मक नहीं बनाता है, वह न चाहे तो भी उसकी जीवन-दिशा विनाशोन्मुख हो जाती है।

व्यक्ति में, समाज में, राष्ट्र में—सभी में विनाश के लिए आकुलता है। यह विनाशोन्मुखता अंततः आत्मघात भी बन जाती है। विनाश का रस पैदा हो तो अंततः वह स्वयं को ही नष्ट करके मानता है। हत्यारे में और आत्मघाती में बहुत फासला नहीं है। हिंसा की चरम परिणति आत्म-हिंसा है।

उस व्यक्ति को मैं जानता था, रात जिसकी हत्या की गई है और उसे भी जिसने हत्या की है। दोनों पुराने शत्रु थे और वर्षों से एक दूसरे को समाप्त करने की टोह में थे। शायद इस महत कार्य के अतिरिक्त उनके जीवन का और कोई लक्ष्य ही नहीं था! शायद इसीलिए हत्यारे ने हत्या करने के बाद स्वयं को स्वयं ही न्याय के हाथों में सौंप दिया है! उसे जी कर अब क्या करना है? जिसके लिए वह जीता था, वह समाप्त ही हो गया है! क्या यह आश्चर्यजनक नहीं है कि हममें से अधिक अपने शत्रुओं के लिए ही जीते हैं? मित्रों के लिए जीने और मरनेवाले लोग तो बहुत कम हैं। अधिकतम लोग तो शत्रुओं के ही लिए जीते और मरते हैं! प्रेम नहीं, घृणा ही जीवन का आधार बन गई है। और तब स्वाभाविक ही है कि मृत्यु में एक गर्हित रस हो और विनाश के प्रति हमारे प्राण एक विवश आकुलता और आकर्षण का अनुभव करें। व्यक्ति हिंसा में और राष्ट्र युद्धों में अकारण ही नहीं खिच जाते हैं।

यह घृणा क्या है ? क्या यह स्वयं के जीवन को आनन्द के शिखरों तक न पहुँचा पाने का दूसरों से प्रतिशोध ही तो नहीं है ? निश्चय ही जो हम उपलब्ध नहीं कर पाते हैं, उसके लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराकर आत्म-ग्लानि से बचने का सहज और सीधा मार्ग मिल जाता है।

और यह शत्रुता क्या है ? क्या स्वयं के मित्र होने की असफलता की ही वह घोषणा नहीं है ?

और क्या शत्रु को समाप्त करने से शत्रुता समाप्त हो सकती है ?

शत्रुता से शत्रु उत्पन्न होता है, इसलिए शत्रु तो मिट सकता है, लेकिन शत्रुता शेष ही रह जाती है। मित्र के मरने से क्या मित्रता नष्ट होती है ? नहीं। तो फिर शत्रु के मिटने से शत्रुता कैसे नष्ट हो सकती है ? मित्र और शत्रु बाहर दिखाई पड़ते हैं, किन्तु उनका उद्गम स्वयं के ही भीतर है। जीवन की गंगा बाहर है, किन्तु गंगोत्री सदा ही भीतर है। मैं तो प्रत्येक व्यक्ति में स्वयं की प्रतिध्वनि ही पाता हूँ। जो मैं होता हूँ, वही दूसरे में झलक आता है।

एक घटना स्मरण आती है :

अमावस की अँधेरी रात्रि थी। एक व्यक्ति किसी की हत्या करने के लिए उसके घर में घुसा। चारों ओर कोई भी नहीं था, लेकिन उसके भीतर बहुत भय था। सब ओर सन्नाटा था, किन्तु उसके भीतर बहुत कोलाहल और अशांति थी। भयभीत काँपते हाथों से उसने द्वार खोला। आश्चर्य कि द्वार भीतर से बन्द नहीं था। बस अटका ही था। लेकिन यह क्या ? द्वार खोलते ही उसने देखा कि एक मजबूत और खूँखार आदमी बंदूक लिये सामने खड़ा है। संभवत: पहरेदार था। लौटने का कोई उपाय नहीं। मृत्यु सामने थी। विचार का भी तो समय नहीं था। आत्मरक्षा के लिए उसने गोली दाग दी। एक क्षण में ही सब हो गया। गोली की आवाज से सारा भवन गूंज उठा और गोली से कोई चीज चूर-चूर होकर बिखर गई। यह क्या ? गोली चलानेवाला व्यक्ति हैरान रह गया। सामने तो कोई भी नहीं था। गोली का धुआँ था और चूर-चूर हो गया एक दर्पण था !

जीवन में भी यही दिखाई पड़ता है। आत्मरक्षा के खयाल में हम दर्पणों से ही जूझ पड़ते हैं। भय भीतर है, इसलिए बाहर शत्रु दिखाई पड़ने लगते हैं। मृत्यु भीतर है, इसलिए बाहर मारनेवाला दिखाई पड़ने लगता है। लेकिन

क्या दर्पणों के फोड़ने से शत्रु समाप्त हो सकते हैं ?

शत्रु मित्रता में समाप्त होता है, मृत्यु में नहीं। प्रेम के अतिरिक्त और सब पराजय है।

शत्रु है स्वयं में, स्वयं की घृणा में, स्वयं के भय, द्वेष और ईर्ष्या में। किन्तु दिखाई पड़ता है वह बाहर। पांडुरोगी की आँखों में पीलापन होता है, लेकिन उसे दिखाई पड़ता है कि सारा संसार ही पीला हो गया है। ऐसे रोग में क्या करना उचित है ? क्या संसार से पीतवर्ण को मिटाने में लगना ठीक होगा या स्वयं की आँखों का उपचार ? संसार तो वैसा ही है जैसी कि स्वयं की आँखें हैं। स्वयं की दृष्टि में ही शत्रु और मित्र के रंग छिपे हुए हैं। शत्रु को तो कोई भी नहीं चाहता, लेकिन शत्रुता को हम प्रेम किए जाते हैं। शत्रु को मिटाने की आकांक्षा में भी तो यही प्रकट होता है कि हम शत्रु नहीं, मित्र चाहते हैं, लेकिन घृणा को हम अपने रक्त से सींचते रहते हैं। यह निपट मूढ़ता है। मित्र को जीवन देना चाहते हैं, लेकिन प्रेम को जन्म ही नहीं देते हैं। शत्रुओं की हत्या की जाती है, लेकिन वस्तुतः मित्रों की ही हत्या हो जाती है। बीज तो हम विष के बोते हैं और आकांक्षा अमृत के फलों की करते हैं ! यह होना असंभव है।

मित्र और शत्रु—सब स्वयं की ही परछाइयाँ हैं।
मैं प्रेम हूँ तो संसार भी मित्र है।
मैं घृणा हूँ तो परमात्मा भी शत्रु है।

३७

एक मित्र कभी-कभी आते हैं। उन्हें देख सदा ही सुकरात का वचन याद आ जाता है। किसी फकीर से सुकरात ने कहा था : "वंधु, तुम्हारे फटे हुए फकीरी वस्त्रों में से सिवा अभिमान के और कुछ भी नहीं झाँकता है !"

अहंकार के मार्ग अतिसूक्ष्म हैं। ओढ़ी हुई विनम्रता उसकी सूक्ष्मतम गति है। ऐसी विनम्रता उसे ढाँकती कम, प्रकट ही ज्यादा करती है। वह उन वस्त्रों की भाँति ही होती है, जो शरीर कोढ ंकिते नहीं, अपितु उघाड़ते हैं। वस्तुतः न तो प्रेम को ओढ़कर घृणा मिटाई जा सकती है और न ही विनम्रता के वस्त्रों से अहंकार की नग्नता ही ढाँकी जा सकती है। राख के नीचे जैसे अंगारे छिपे और सुरक्षित होते हैं और हवा का जरा-सा झोंका ही उन्हें प्रकट कर देता है, ऐसे ही आरोपित व्यक्तित्वों में यथार्थ दवा रहता है। एक धीमी-सी खरोंच ही अभिनय को तोड़कर उसे प्रत्यक्ष कर देती है। ऐसी परोक्ष वीमारियाँ प्रत्यक्ष वीमारियों से ज्यादा ही भयंकर और घातक होती हैं। लेकिन स्वयं को ही धोखा देने में मनुष्य का कौशल वहुत विकसित है और वह इस कौशल का इतना अधिक उपयोग करता है कि वह उसका स्वभाव-जैसा ही वन जाता है। हजारों वर्षों से जवरदस्ती सभ्यता लाने के प्रयास में इस कौशल के अतिरिक्त और कुछ भी निर्मित नहीं हुआ है। प्रकृति को मिटाने में तो नहीं, उसे ढाँकने में मनुष्य जरूर ही सफल हो गया है। और इस भाँति तथाकथित सभ्यता एक महारोग सिद्ध हुई है।

संस्कृति का आविर्भाव प्रकृति के विरोध से कैसे हो सकता है ? उससे तो संस्कृति नहीं, विकृति ही फूलेगी-फलेगी। वास्तविक संस्कृति तो प्रकृति का ही सम्यक निखार है। आत्मवंचनाएँ मनुष्य को कहीं भी नहीं ले जा सकतीं, लेकिन आत्मक्रांति की तुलना में आत्मवंचना वहुत आसान है और सदा ही आसान को चुनने से भूल हो जाती है। आसान सदैव ही ठीक नहीं होता। जीवन के पर्वतीय शिखर छूने के लिए उतार की सुगमता को कैसे वरण किया जा सकता है ? स्वयं को धोखा देना वहुत ही सुगम है। दूसरों को धोखा देने में तो पकड़े जाने का भी भय होता है। स्वयं को धोखा देने में वह भय भी नहीं। दूसरों

को धोखा देनेवाले पृथ्वी पर दंड और अपमान भोगते हैं और परलोक में भी नरक की घोर यातनाएँ उनकी प्रतीक्षा करती हैं। लेकिन स्वयं को धोखा देनेवाले इस लोक में भी सम्मानित होते हैं, और उस लोक में भी स्वयं को स्वर्ग का अधिकारी मानते हैं! इसीलिए तो मनुष्य निर्भय होकर स्वयं को धोखा देता है। अन्यथा सभ्यता और धार्मिकता के सारे ढोंग पैदा ही कैसे हो सकते थे?

लेकिन क्या जो यथार्थ है, उसे मात्र छिपाकर मिटाया जा सकता है?

और क्या मनुष्य स्वयं को, सबको और अंततः परमात्मा को भी धोखा देने में समर्थ हो सकता है?

क्या ऐसी सब दौड़ निपट मूर्खता नहीं है?

व्यक्ति जैसा है, उसे स्वयं को वैसा ही जानना उचित है, क्योंकि स्वयं के यथार्थ को स्वीकार किए बिना स्वयं का कोई भी वास्तविक रूपान्तरण नहीं हो सकता। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए जैसे रोग को उसकी शत-प्रतिशत सच्चाई में जानना होता है, वैसे ही आत्मिक स्वास्थ्य के लिए भी आंतरिक रुग्णताओं को जानना आवश्यक है। रोग को ढाँकना, रोगी के नहीं, रोग के ही हित में है! उपचार के लिए निदान अनिवार्य है। जो निदान से बचना चाहते हैं, वे उपचार से भी वंचित रह जाते हैं।

एक मूर्तिकार राल्फ वाल्डो इमर्सन की मूर्ति बना रहा था। इमर्सन रोज ही पत्थर पर उभरती आकृति को बहुत गौर से देखता था। और जैसे-जैसे मूर्ति बनती जाती थी, वह वैसे-वैसे गंभीर होता जाता था। अंततः जब एक दिन मूर्ति करीब-करीब तैयार हो गई तो इमर्सन उसे देखकर बहुत गंभीर हो गया। मूर्तिकार ने उससे गंभीर होने का कारण पूछा, तो वह बोला: मैं देख रहा हूँ कि मूर्ति जैसे-जैसे मेरे-जैसी होती जा रही है, वैसे-वैसे कुरूप और भद्दी होती जाती है!

मैं स्वयं की कुरूपता, नग्नता और पशुता को देखने की इस सामर्थ्य को ही आत्मक्रांति का पहला सोपान मानता हूँ।

वही मनुष्य, जो स्वयं के असौन्दर्य को देखने में समर्थ होता है, स्वयं को सौन्दर्य दे पाने में भी समर्थ हो पाता है। पहली सामर्थ्य के बिना, दूसरी सामर्थ्य कभी भी पैदा नहीं होती। और जो स्वयं की कुरूपता को ढाँककर विस्मरण करने में लग जाता है, वह तो सदा को ही कुरूप रह जाता है। स्वयं

में रावण को जानना और स्वीकार करना, राम होने की ओर अनिवार्य चरण है। जीवन की कुरूपता, उसके प्रति मनुष्य की मूर्च्छा में ही छिपी और सुरक्षित रहती है। मैं जैसा हूँ, मुझे स्वयं को सर्वप्रथम वैसा ही जानना होगा, और कोई विकल्प नहीं है। यात्रा के इस प्राथमिक बिंदु पर ही यदि असत्य को जगह दी तो अंत में सत्य हाथ नहीं आ सकता। किन्तु हम तो स्वयं की वास्तविकता को कुरूप होने के कारण ही अस्वीकार कर देते हैं और एक अयथार्थ और कल्पित व्यक्तित्व का पोषण करने लगते हैं। सौन्दर्य की यह चाह तो ठीक है, लेकिन मार्ग ठीक नहीं। स्वयं के असौन्दर्य को सुन्दर मुखौटे पहनकर नहीं मिटाया जा सकता। इसके विपरीत इन मुखौटों के कारण वह और भी असुन्दर और कुरूप होता जाता है। फिर धीरे-धीरे स्वयं के समक्ष से भी स्वयं का बोध खो जाता है और झूठे मुखौटों से ही एकमात्र परिचय और पहचान रह जाती है। खुद का ही मुखौटा खो जाय तो खुद को ही पहचानना असंभव है। एक महिला खजाने से रुपए निकालने गई थी। खजांची ने उससे पूछा : "मैं कैसे मानूं कि आप आप ही हैं ?" उसने जल्दी से बेग से दर्पण निकाला, देखा और कहा : "मानिए। मैं मैं ही हूँ !"

सत्य की खोज में, स्वयं की वास्तविक सत्ता की खोज में, सबसे पहले अपने ही पहने हुए मुखौटों से लड़ना होता है। स्वयं के वास्तविक चेहरे को खोजे बिना न तो स्वयं का आविष्कार ही हो सकता है और न परिष्कार ही। सत्य का भवन यथार्थ की बुनियाद पर खड़ा होता है और सत्य के सिवा और कोई व्यक्ति संस्कृति नहीं लाती है।

३८

रात एक युवती ने आकर कहा : "मैं सेवा करना चाहती हूँ।" उससे मैंने कहा : "'मैं' को जाने दो तो सेवा अपने आप आ जाती है।"

अहंकार के अतिरिक्त जीवन के सेवा बन जाने में और क्या बाधा है ?

अहंकार सेवा माँगता है। वस्तुतः वह सब कुछ माँगता ही है, देता कुछ नहीं। वह दान में असमर्थ है। वह उसकी सामर्थ्य ही नहीं। अहंकार सदा का भिखारी है। इसीलिए अहंकारी व्यक्ति से दीन और दरिद्र व्यक्ति खोजना असंभव है।

सेवा तो वही कर सकता है, जो सम्राट् है। जिसके पास स्वयं ही कुछ नहीं है, वह किसी को देगा क्या ? देने के पहले होना तो आवश्यक ही है।

सेवा क्या है ? क्या प्रेम ही सेवा नहीं है ? और प्रेम का जन्म तो उसी चेतना में होता है, जिसमें 'मैं' की कब्र बन गई होती है।

'मैं' की मृत्यु में ही प्रेम का जन्म और जीवन है।

'मैं' की चिता में से ही प्रेम का बीज अंकुरित होता है।

'मैं' से जो भरे हैं, प्रेम से वे रिक्त ही होते हैं।

'मैं' शोपण का केन्द्र है। उसकी सेवा भी शोषण ही है। उसमें भी वही पुष्टि पाता और प्रगाढ़ होता है। क्या सेवकों के दंभ से मनुष्यता अपरिचित है ? शोपक के दंभ में भी विनम्रता का आवरण होता है, किन्तु सेवक की तो विनम्रता में भी दंभ की ही घोषणा होती है।

स्मरण रहे कि प्रेम मुखर नहीं है और सेवा मौन है।

और यह भी स्मरण रहे कि प्रेम स्वयं ही अपनी धन्यता है और सेवा स्वयं ही अपना पुरस्कार है।

एक अद्भुत प्रसंग मुझे याद आता है। दो मित्र चित्रकला सीखने गुरु के द्वार पहुँचे। दोनों थे अति दरिद्र। दो रोटियाँ भी उनके पास नहीं थीं। उन्होंने तय किया कि उनमें एक किसी कला का अभ्यास करे और दूसरा श्रम करके स्वयं का और उसका पेट भरे, फिर दूसरा कमायगा और पहला सीखेगा। एक ने गुरु के चरणों में बैठकर चित्रण शुरू किया। वर्ष आए और गए। कठिन

साधना थी। समय का सवाल ही नहीं था। पूरी शक्ति लगाकर वह युवक साधनारत था। धीरे-धीरे उसकी ख्याति फैलने लगी। कला के जगत में उसका भाग्योदय हो गया था। उस युवक का नाम था : अलब्रेख्त डूरेर। किन्तु उससे भी कठिन साधना में उसका मित्र लगा था। वह गड्ढे खोद रहा था और गिट्टियाँ फोड़ रहा था, लकड़ियाँ काट रहा था और बोझ ढो रहा था। धीरे-धीरे वह भूल ही गया कि वह भी चित्रकला सीखने आया था। और जब कलाभ्यास की उसकी बारी आई तो पाया गया कि उसके हाथ तो इतने कड़े, सख्त और विकृत हो गए थे कि उनसे चित्रण संभव ही नहीं रहा था! यह दुर्घटना देख पहला युवक रोने लगा, किन्तु दूसरा बहुत आनंदित था। उसने कहा : "इससे क्या भेद पड़ता है कि मेरे हाथ चित्र बनाते हैं या तुम्हारे? तुम्हारे हाथ भी क्या मेरे ही हाथ नहीं हैं?" पहला युवक तो महान चित्रकार बन गया, किन्तु उसके मित्र का नाम तो किसी को ज्ञात भी नहीं है, जिसने अपना खून-पसीना एक कर उसे चित्रकार बनाया था। किन्तु उसकी अज्ञात सेवा क्या प्रेम का एक ज्वलन्त प्रमाण नहीं है? क्या वे धन्य नहीं हैं, जो अज्ञात में सेवा करते और सेवा के अवसरों की प्रतीक्षा करते हैं? जो जाने जाते हैं, वे ही नहीं, जो कभी नहीं जाने जाते, वे भी सृजन करते हैं। प्रेम के अज्ञात हाथों से की गई सेवा से बड़ी न तो कोई साधना है और न कोई प्रार्थना ही। अलब्रेख्त डुरेर ने अपने उस मित्र के हाथों का प्रार्थना करता हुआ एक चित्र बनाया है। निश्चय ही वैसे सुन्दर हाथ खोजना क्या आसान है? उन-जैसे पवित्र हाथ खोजना क्या संभव है? और क्या उन-जैसे हाथों के अतिरिक्त प्रार्थना करने का अधिकार किसी और को मिल सकता है? उन हाथों ने जैसा प्रेम किया और प्रार्थना की, वह सौभाग्य कितने थोड़े-से लोगों को मिल पाता है?

३९

मैं एक महानगरी में था। वहाँ कुछ युवक मिलने आए। वे पूछने लगे—"क्या आप ईश्वर में विश्वास करते हैं ?" मैंने कहा—"नहीं। विश्वास का और ईश्वर का क्या संबंध ? मैं तो ईश्वर को जानता हूँ।"

फिर मैंने उनसे एक कहानी कही।

किसी देश में क्रांति हो गई थी। वहाँ के क्रांतिकारी सभी कुछ बदलने में लगे थे। धर्म को भी वे नष्ट करने पर उतारू थे। उसी सिलसिले में एक वृद्ध फकीर को पकड़ कर अदालत में लाया गया। उस फकीर से उन्होंने पूछा—"ईश्वर में क्यों विश्वास करते हो ?" वह फकीर बोला—"महानुभाव, विश्वास मैं नहीं करता। लेकिन, ईश्वर है। अब मैं क्या करूँ ?" उन्होंने पूछा—"यह तुम्हें कैसे ज्ञात हुआ कि ईश्वर है ?" वह बूढ़ा बोला—"आँखें खोलकर जबसे देखा, तबसे उसके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है।"

उस फकीर के प्रत्युत्तरों ने अग्नि में घृत का काम किया। वे क्रांतिकारी बहुत क्रुद्ध हो गए और बोले—"शीघ्र ही हम तुम्हारे सारे साधुओं को मार डालेंगे ? फिर······?"

वह बूढ़ा हँसा और बोला—"जैसी ईश्वर की मर्जी !"

"लेकिन हमने तो धर्म के सारे चिह्नों को ही मिटा डालने का निश्चय किया है। ईश्वर का कोई भी चिह्न हम संसार में न छोड़ेंगे ?'

वह बूढ़ा बोला—"बेटे ! यह बड़ा ही कठिन काम तुमने चुना है, लेकिन ईश्वर की जैसी मर्जी। सब चिह्न कैसे मिटाओगे ? जो भी शेष होगा, वही उसकी खबर देगा। कम से कम तुम तो शेष रहोगे ही, तो तुम्हीं उसकी खबर दोगे। ईश्वर को मिटाना असंभव है, क्योंकि ईश्वर तो समग्रता है।"

ईश्वर को एक व्यक्ति की भाँति सोचने से ही सारी भ्रांतियाँ खड़ी हो गई है।

ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं। वह तो जो है, वही है।

और ईश्वर में विश्वास करने के विचार से भी बड़ी भूल हो गई है।

प्रकाश में विश्वास करने का क्या अर्थ ? उसे तो आँखें खोलकर ही जाना जा सकता है।

विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है।

आँखों पर पट्टियाँ बँधा विश्वास नहीं, वरन् पूर्णरूपेण खुली हुई आँखों-वाला विवेक ही मनुष्य को सत्य तक ले जाता है।

और, सत्य ही परमात्मा है। सत्य के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है।

प्रकाश में विश्वास करने का क्या अर्थ ? उसे तो आँखें खोलकर ही जाना जा सकता है।

विश्वास अज्ञान का समर्थक है और अज्ञान एकमात्र पाप है।

आँखों पर पट्टियाँ बँधा विश्वास नहीं, वरन् पूर्णरूपेण खुली हुई आँखों-वाला विवेक ही मनुष्य को सत्य तक ले जाता है।

और, सत्य ही परमात्मा है। सत्य के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है।

४०

मैं मन के आमूल परिवर्तन का आग्रह करता हूँ। शरीर के तल पर किसी भी परिवर्तन का कोई गहरा मूल्य नहीं। मात्र आचरण की बदलाहट अपर्याप्त है, क्योंकि अंतर् की क्रांति के अभाव में वह आत्मवंचना से ज्यादा नहीं है।

लेकिन जिनके चित्त में भी स्वयं को परिवर्तित करने का विचार उठता है, वे शीघ्र ही हृदय को बिना बदले ही वस्त्रों को बदलने में संलग्न हो जाते हैं। स्वयं को धोखा देने की यह अंतिम विधि है। इससे सावधान होना बहुत आवश्यक है। अन्यथा संन्यास भी बाह्य घटना मात्र रह जाता है। संसार तो बाह्य है, लेकिन संन्यास भी बाह्य ही हो तो जीवन बहुत ही अंधकार पूर्ण पथों पर भटक जाता है।

वासना का पथ तो अज्ञान है ही। किन्तु यदि त्याग भी बाह्य हो, तो वह और भी अज्ञानपूर्ण मार्गों पर ले जाता है।

वस्तुतः चेतना का स्वयं से बाह्य होना ही अज्ञान और अंधकार है। फिर इससे कोई भेद नहीं पड़ता है कि वह बाह्यता संसार को लेकर है, या संन्यास को।

चित्त बाह्यता से घिरा हो, तो भोग भी उसे बाहर रखता है और त्याग भी।

और चित्त बाह्य से मुक्त हो, तो सहज ही स्वयं में आ जाता है।

बाह्य की सार्थकता का आभास संसार है।

और बाह्य की व्यर्थता का बोध संन्यास।

एक कथा मैंने सुनी है :

एक नगर में एक ही दिन दो मृत्यु हो गई थी। बड़ी अजीब घटना हुई थी। एक योगी और एक वेश्या—दोनों एक ही दिन एक ही घड़ी में संसार से चल दिए थे। दोनों का आवास भी आमने-सामने ही था। दोनों जीए भी साथ ही साथ और मरे भी साथ ही साथ। एक और गहरा आश्चर्य भी था। वह तो योगी और वेश्या को छोड़ और किसी को

ज्ञात नहीं है। जैसे ही उनकी मृत्यु हुई, वैसे ही उन्हें ले जाने के लिए ऊपर से दूत आए लेकिन वे दूत वेश्या को लेकर स्वर्ग की ओर चले और योगी को लेकर नर्क की ओर। योगी ने कहा : "मित्रो, निश्चय ही कुछ भूल हो गई है! वेश्या को स्वर्ग की ओर लिये जाते हो और मुझे नर्क की ओर? यह कैसा अन्याय है—यह कैसा अँधेर है?" उन दूतों ने कहा : "नहीं, महानुभाव, न भूल है, न अन्याय, न अँधेर। कृपाकर थोड़ा नीचे देखें।" योगी ने नीचे धरती की ओर देखा। वहाँ उसके शरीर को फूलों से सजाया गया था और उसका विशाल जुलूस निकाला जा रहा था। हजारों-हजारों लोग रामधुन गाते हुए, उसके शरीर को श्मशान की ओर ले जा रहे थे। वहाँ उसके लिए चंदन की चिता तैयार थी, और दूसरी ओर सड़क के किनारे वेश्या की लाश पड़ी थी। उसे कोई उठानेवाला भी नहीं था, इसलिए गीध और कुत्ते उसे फाड़-फाड़कर खा रहे थे।

यह देख वह योगी बोला : "धरती के लोग ही कहीं ज्यादा न्याय कर रहे हैं!"

उन दूतों ने उत्तर दिया : "क्योंकि धरती के लोग केवल वही जानते हैं, जो बाहर था। शरीर से ज्यादा गहरी उनकी पहुँच नहीं। किन्तु असली सवाल तो शरीर का नहीं, मन का है। शरीर से तुम संन्यासी थे, किन्तु मन में तुम्हारे क्या था? क्या सदा ही तुम्हारा मन वेश्या में अनुरक्त नहीं था? क्या सदा ही तुम्हारे मन में यह वासना नहीं जागती रही कि उधर वेश्या के घर में कैसा सुन्दर संगीत और नृत्य चल रहा है, वहाँ बड़ा आनन्द आता होगा और मेरा जीवन कैसा नीरस है। और उधर वह वेश्या थी। वह निरन्तर ही सोचती थी कि योगी का जीवन कैसा आनन्दपूर्ण है! रात्रि को जब तुम भजन गाते थे तो वह भाव-विभोर हो रोती थी। इधर संन्यासी के अहंकार से तुम भरते जा रहे थे, उधर पाप की पीड़ा से वह विनम्र होती जाती थी। तुम अपने तथाकथित ज्ञान के कारण कठोर होते गए और वह अपने अज्ञान-बोध के कारण सरल। अंततः तुम्हारा अहंकारग्रस्त व्यक्तित्व बचा और उसका अहंशून्य। मृत्यु के क्षण में तुम्हारे चित्त में अहंकार था, वासना थी। उसके चित्त में न अहंकार था, न वासना। उसका चित्त तो परमात्मा के प्रकाश, प्रेम और प्रार्थना से परिपूर्ण था।"

जीवन का सत्य बाह्य आवरण में नहीं है। फिर बाह्य के परिवर्तन से

क्या होगा ?

सत्य है बहुत आंतरिक— आत्यंतिक रूप से आंतरिक। उसे जानने और पाने के लिए व्यक्तित्व की परिधि पर नहीं, केन्द्र पर श्रम करना होता है। उस केन्द्र को खोजो। खोजने से वह निश्चय ही मिलता है, क्योंकि वह स्वयं में ही तो छिपा है।

धर्म परिधि का परिवर्तन नहीं, अंतस् की क्रांति है।

धर्म परिधि पर अभिनय नहीं, केन्द्र पर श्रम है।

धर्म श्रम है, स्वयं पर। उस श्रम से ही स्व मिटता और सत्य उपलब्ध होता है।

४१

अहंकार हृदय को पाषाण बना देता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुन्दर है, वह उस सबकी मृत्यु है। इसलिए अहंकार के अतिरिक्त परमात्मा के मार्ग में कोई बाधा नहीं। क्योंकि पाषाण हृदय प्रेम को कैसे जानेगा? और जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ परमात्मा कहाँ? प्रेम के लिए तो सरल और विनम्र हृदय चाहिए—सरल और संवेदनाशील। और अहंकार जितना प्रगाढ़ होता है, उतना ही हृदय अपनी सरलता और संवेदनशीलता खो देता है।

"धर्म क्या है?" जब कोई मुझ से पूछता है तो मैं कहता हूँ—"हृदय की सरलता—हृदय की संवेदनशीलता।

लेकिन, धर्म के नाम से जो कुछ प्रचलित है, वह तो अहंकार के ही बहुत-से सूक्ष्म और जटिल रूपों की अभिव्यक्ति है।

अहंकार समस्त हिंसा का मूल है।

"मैं हूँ"—यह भाव ही हिंसा है। फिर "मैं कुछ हूँ" यह तो अतिहिंसा है।

सत्य को, सौन्दर्य को हिंसक चित्त नहीं पा सकता है। क्योंकि, हिंसा स्वयं को कठोर कर देती है। कठोरता का अर्थ है, स्वयं के द्वारों का बंद हो जाना। और जो स्वयं में बंद है, वह सर्व से कैसे संबंधित हो सकता है?

एक फकीर था—हसन। बहुत दिन का भूखा, वह एक गाँव के बाहर जाकर ठहरा था। उसके कुछ साथी भी साथ थे। वे भी लम्बी यात्रा से थके-मांदे और भूखे-प्यासे थे। वे जाकर जैसे ही उस खंडहर में ठहरे थे कि एक अपरिचित व्यक्ति बहुत-सा भोजन और फल लेकर आया और बोला—"यह क्षुद्र-सी भेंट उनके लिए है जो तपस्वी हैं और संन्यासी हैं।" उस व्यक्ति के चले जाने के बाद हसन ने अपने साथियों से कहा—"मित्रो, मुझे आज की रात्रि भी भूखा ही सोना होगा, क्योंकि मैं कहाँ हूँ तपस्वी, कहाँ हूँ संन्यासी? असल में मैं ही कहाँ हूँ?"

"मैं नहीं हूँ"—इसे जो जान लेते हैं, वे परमात्मा को जान लेते हैं।

"मैं नहीं हूँ"—इसे जो पा लेते हैं, वे परमात्मा को पा लेते हैं।

एक दोपहर की वात है। कुछ व्यक्ति आए और कहने लगे : "परमात्मा नहीं है और धर्म धोखाधड़ी है।"

मैं उनकी वात सुन हँसने लगा तो उन्होंने पूछा : "आप हँसते क्यों हैं ?"

मैंने कहा : "क्योंकि अज्ञान मुखर है और ज्ञान मौन। क्या परमात्मा के होने या न होने के संवंध में कुछ भी कहना इतना आसान है ? मनुष्य की क्षुद्र बुद्धि के सभी निर्णय क्या हँसने योग्य ही नहीं हैं ? जो स्वयं की बुद्धि की सीमा को जानते हैं, वे निर्णय नहीं लेते, अपितु अवाक् रह जाते हैं और उस रहस्यपूर्ण क्षण में ही वे स्वयं की सीमा का अतिक्रमण भी कर जाते हैं। तव वे स्वयं को भी जानते हैं और सत्य को भी। क्योंकि सत्य स्वयं में है और सत्य में स्वयं की सत्ता है। क्या वूँद सागर में है और वूँद में सागर नहीं है ? क्या यह उचित है कि वूँद स्वयं को जाने विना सागर को जानने चले और जव न जान सके तो कहे कि सागर है ही नहीं। वूँद स्वयं को ही जान ले तो सागर को भी जान लेती है। परमात्मा का विचार व्यर्थ है। मैं आपसे पूछता हूँ : "क्या आप स्वयं को जानते हैं ? क्या इस शर्त को पूरा किए विना कोई भी परमात्मा के संवंध में होने या न होने का निर्णय लेने का अधिकारी है ?"

"क्या आप स्वयं को जानते हैं ?" यह प्रश्न सुन वे मित्र एक दूसरे की ओर देखने लगे थे। क्या आप भी यह प्रश्न सुन ऐसे ही एक दूसरे की ओर नहीं देखने लगेंगे ? लेकिन स्मरण रखें कि स्वयं को जाने विना जीवन में न कोई सार्थकता है, न धन्यता है। उन मित्रों को हजारों साल पूर्व यूनान में हुई एक वार्ता मैंने वताई थी।

एक वृद्ध ऋषि से किसी ने पूछा : "संसार की वस्तुओं में सवसे वड़ी वस्तु क्या है ?"

ऋषि ने कहा : "आकाश। क्योंकि जो भी है, आकाश में है और स्वयं आकाश किसी में नहीं है।"

उसने पूछा : "और श्रेष्ठतम ?"

ऋषि ने कहा : "शील। क्योंकि शील पर सव कुछ न्योछावर है, लेकिन

शील किसी के लिए भी नहीं खोया जा सकता है।"

उसने पूछा : "और सबसे गतिवान ?"

ऋषि ने कहा : "विचार।"

उसने पूछा : "और सबसे सरल ?"

ऋषि ने कहा : "उपदेश।"

उसने पूछा : "और सबसे कठिन ?"

ऋषि ने कहा : "आत्मज्ञान।"

निश्चय ही स्वयं को जानना सर्वाधिक कठिन प्रतीत होता है, क्योंकि उसे जानने के लिए शेष सब जानना छोड़ना पड़ता है। ज्ञान से शून्य हुए बिना स्वयं का ज्ञान नहीं हो सकता है।

अज्ञान आत्मज्ञान में बाधा है।

ज्ञान भी आत्मज्ञान में बाधा है।

लेकिन एक ऐसी अवस्था भी है, जब न ज्ञान है, न अज्ञान है। उस अंतराल में ही स्वयं का ज्ञान आविर्भूत होता है।

मैं उस अवस्था को ही समाधि कहता हूँ।

४३

मैं धर्म पर क्या कहूँ ? धर्म मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार है।

एक रात्रि मैं नाव पर था। बड़ी नाव थी और बहुत से मित्र साथ थे। मैंने उनसे पूछा : "यह सरिता तेजी से भागी जा रही है। लेकिन कहाँ ?" किसी ने कहा : "सागर की ओर।" सच ही सरिताएँ सागर की ओर भागी जाती हैं, लेकिन क्या सरिता का सागर की ओर जाना अपनी ही मृत्यु की ओर जाना नहीं ? सरिता सागर में मिटेगी ही तो ? शायद इसीलिए सरोवर सागर की ओर नहीं जाते हैं ! अपनी ही मृत्यु की ओर कौन समझदार जाना पसन्द करेगा ? इसीलिए तथाकथित समझदार भी धर्म की ओर नहीं जाते हैं ! सरिता के लिए जो सागर है, मनुष्य के लिए वही धर्म है। धर्म है, स्वयं को, सर्व में, समग्रीभूत रूप से खो देना। अहंता के लिए वह महामृत्यु है। इसीलिए जो स्वयं को बचाना चाहते हैं, वे अहंकार का सरोवर बनकर परमात्मा के सागर में मिलने से रुके रहते हैं। सागर में मिलने की अनिवार्य शर्त तो स्वयं को मिटाना है। लेकिन वह मृत्यु वस्तुतः मृत्यु नहीं है। क्योंकि उससे होकर जो जीवन पाया जाता है, उसके समक्ष जिसे हम जीवन कहते हैं, वही मृत्यु हो जाता है। मैं स्वयं मरकर ही यह कह रहा हूँ।

सत्य-जीवन में प्रवेश के लिए असत्य-जीवन में मरना ही पड़ता है।

विराट में प्रतिष्ठा के लिए अणु को बिखेरना ही पड़ता है।

किन्तु एक ओर जो मृत्यु है, वही दूसरी ओर जीवन बन जाती है।

अहंकार की मृत्यु आत्मा का जीवन है। वह मिटना नहीं है, वही होना है। जो इस सत्य को नहीं जान पाते हैं, वे जीवन से ही वंचित रह जाते हैं।

सरोवर सरिता का जीवन नहीं, मृत्यु ही है। यद्यपि उस भाँति वह सुरक्षित मालूम होती है ! और सागर सरिता की मृत्यु नहीं, जीवन है। यद्यपि उस भाँति वह मिटी मालूम होती है !

एक दिन राधा ने कृष्ण से पूछा, "मेरे प्रभु ! यह बाँसुरी सदा ही तुम्हारे ओठों पर है। इससे मुझे बड़ी ईर्ष्या होती है। तुम्हारे मधुमय ओठों का अमृतस्पर्श इस बाँस की पोंगरी को इतना अधिक मिलता है कि मैं जलन से

मरी जाती हूँ। यह तुम्हारे इतने निकट क्यों है ? यह तुम्हें इतनी प्यारी क्यों है ? कई बार मैं सोचती हूँ : काश मैं कृष्ण की बाँसुरी ही होती ! भावी जन्मों में मैं तुम्हारे ओंठों पर रखी बाँसुरी ही होना चाहती हूँ !" यह सुन कृष्ण खूब हँसने लगे और बोले : "प्रिय ! बाँसुरी होना बहुत कठिन है। शायद उससे अधिक कठिन और कुछ भी नहीं। जो स्वयं को बिलकुल मिटा दे, वही बाँसुरी हो सकता है। यह बाँसुरी, बाँस की पोंगरी ही नहीं, वस्तुतः प्रेमी का हृदय है। इसका स्वयं का कोई स्वर ही नहीं है। अपने प्रेमी के स्वरों को ही इसने अपना संगीत बना लिया है। मैं गाता हूँ, तो वह गाती है। मैं मौन हूँ, तो वह मौन है। और इससे ही मेरा जीवन उसका जीवन हो गया है।"

मैं पास ही से निकला था और अनायास ही राधा-कृष्ण की यह बात सुन पड़ी थी ! बाँसुरी होने का रहस्य ही संगीत को पाने का रहस्य है। अस्मिता के अंत में ही आत्मा को पाने की कुंजी है।

धर्म क्या है ? मृत्यु की विधि से जीवन को पाने का द्वार ही धर्म है।

यह विचारणीय नहीं है कि विचारों में धर्म है या नहीं। विचार नहीं, धर्म जब प्राण ही बनता है, तभी सार्थक है। विचारों में तो धर्म बहुत है। वह धर्म उबारता कहाँ है? वह तो डुबोता ही है। विचारों की नाव में क्या सागर की यात्रा पर कोई निकलता है? लेकिन सत्य के सागर में तो व्यक्ति विचारों की नाव को लेकर ही निकल जाते हैं। फिर यदि वे किनारों पर ही डूबते देखे जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। विचारों की नाव से तो कागज की नाव भी कहीं दूर ले जा सकती है। वह भी कहीं ज्यादा वास्तविक है। विचार तो स्वप्न की भाँति हैं, उन पर भरोसा उचित नहीं है।

धर्म विचार में ही हो, तो उससे ज्यादा असत्य और कुछ भी नहीं है।

धर्म शास्त्रों में ही है, इसीलिए तो मृत है।

धर्म शब्दों में ही है, इसीलिए तो निष्क्रिय है।

धर्म संप्रदायों में ही है, इसीलिए तो धर्म धर्म ही नहीं है।

धर्म तो जीवन में हो, तभी जीवित बनता है। धर्म तो प्राणों के प्राण में हो, तभी सत्य बनता है। और जहाँ सत्य है, वहाँ शक्ति है, वहाँ गति है। जहाँ गति है, वहाँ जीवन है।

एक कैदी की मृत्यु हो गई थी। उसकी मृत देह के पास लोग इकट्ठे थे और रो नहीं, हँस रहे थे! यह देख मैं भी उस भीड़ में रुक गया था। बहुत बार उस कैदी ने सजाएँ काटी थीं और शायद ही कोई जुर्म हो जो उसने न किया हो। उसके जीवन का अधिकांश कारागृहों में ही व्यतीत हुआ था। लेकिन आदमी वह बड़े धार्मिक विचारों का था! धर्म की रक्षा के लिए एक लट्ठ तो सदा ही उसके हाथों में रहता था। जब वह गालियाँ नहीं बकता था तो मूछों पर ताव देता हुआ राम-राम ही जपता रहता था। वह सदा कहा करता था: "अनादर से मृत्यु भली!" यह उसका जीवन-सिद्धांत था। एक कागज में धार्मिक विधि से लिखवाकर उसने अपने इस मंत्र को तावीज में बंद करवाकर भुजा में बाँध रखा था। फिर जब उसे इतने से ही तृप्ति न हुई तो अंतिम बार जब वह कारागृह से छूटा तो उसने वे शब्द अपनी दोनों भुजाओं

पर गुदवा भी लिये थे। रामनाम तो उसके शरीर में अनेक जगह गुदा ही हुआ था! उसका मृत शरीर सुबह की धूप में पड़ा था। उसका जीवन उसके जीवन की और उसकी दोनों बाहें उसके जीवन-दर्शन की घोषणा कर रही थीं! और तभी मैं समझ सका कि लोग रो क्यों नहीं रहे थे, और हँस क्यों रहे थे।

धर्म के नाम पर मनुष्य की जो स्थिति है, वह भी ठीक ऐसी ही है।

मैं आपसे यह ज़रूर पूछना चाहता हूँ कि उस स्थिति पर रोना उचित है या कि हँसना उचित है?

४५

जीवन क्या है ?

एक पवित्र यज्ञ। लेकिन उन्हीं के लिए जो सत्य के लिए स्वयं की आहुति देने को तैयार होते हैं।

जीवन क्या है ?

एक अमूल्य अवसर। लेकिन उन्हीं के लिए जो साहस, संकल्प और श्रम करते हैं।

जीवन क्या है ?

एक वरदान देती चुनौती। लेकिन उन्हीं के लिए जो उसे स्वीकारते हैं, और उसका सामना करते हैं।

जीवन क्या है ?

एक महान संघर्ष। लेकिन उन्हीं के लिए जो स्वयं की शक्ति को इकट्ठा कर विजय के लिए जूझते हैं।

जीवन क्या है ?

एक भव्य जागरण। लेकिन उन्हीं के लिए जो स्वयं की निद्रा और मूर्च्छा से लड़ते हैं।

जीवन क्या है ?

एक दिव्य गीत। लेकिन उन्हीं के लिए जिन्होंने स्वयं को परमात्मा का वाद्य बना लिया है।

अन्यथा, जीवन एक लम्बी और धीमी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

जीवन वही हो जाता है, जो हम जीवन के साथ करते हैं।

जीवन मिलता नहीं, जीता जाता है।

जीवन स्वयं के द्वारा स्वयं का सतत सृजन है। वह नियति नहीं, निर्माण है।

एक विधिवेत्ता ने अपनी अति लम्बी और ऊबानेवाली जिरह के मध्य में क्रोध से न्यायाधीश को कहा "महानुभाव, जूरी सोए हुए हैं!" न्यायाधीश ने

कहा : "मित्र, आपने ही उन्हें सुला दिया है। कृपा करके कुछ ऐसा कीजिए कि वे जाग सकें। मैं भी बीच में कई बार सोते-सोते बचा हूँ!"

जीवन सोया हुआ अनुभव हो तो जानना चाहिए कि हमने कुछ किया है, जिससे वह सो गया है। जीवन दुख प्रतीत हो तो जानना चाहिए कि हमने कुछ किया है, जिससे वह दुख हो गया है। जीवन तो हमारी ही प्रतिध्वनि है। वह तो हमारा ही प्रतिफलन है।

वर्षा की अँधेरी रात्रि है। आकाश में बादल घिरे हैं। बीच-बीच में बिजली तेजी से कड़कती और चमकती है। एक युवक उसकी चमक के प्रकाश में ही अपना मार्ग खोज रहा था। अंततः वह उस झोंपड़ी के द्वार पर पहुँच ही गया, जहां एक अत्यंत वृद्ध फकीर पूरे जीवन से रह रहा है। वह वृद्ध उस झोंपड़ी को छोड़कर कभी भी कहीं नहीं गया था। जब उससे कोई पूछता था कि क्या आपने संसार बिलकुल ही नहीं देखा है, तो वह कहता था : "देखा है, खूब देखा है। स्वयं में ही क्या सारा संसार नहीं है ?"

मैं भी उस वृद्ध को जानता हूँ। वह मेरे भीतर बैठा हुआ है। सच में ही उसने कभी अपना आवास नहीं छोड़ा है। वह वहीं है और वहीं है, जहां सदा से है और जो है।

और मैं उस युवक को भी भलीभांति जानता हूँ, क्योंकि मैं ही तो वह युवक भी हूँ !

वह युवक थोड़ी देर सीढ़ियों पर खड़ा रहा। फिर उसने डरते-डरते द्वार पर दस्तक दी। भीतर से आवाज आई "कौन है ? क्या खोजता है ?"

वह युवक बोला : "यह तो ज्ञात नहीं कि मैं कौन हूँ ? हां, वर्षों से आनन्द की तलाश में जरूर भटक रहा हूँ। आनन्द को खोजता हूँ और वही खोज आपके द्वार पर ले आई है।" भीतर से हँसी की आवाज आई और कहा गया : "जो स्वयं को ही नहीं जानता, वह आनन्द को कैसे पा सकता है ? उस खोज में दीए के तले अँधेरा नहीं चल सकता। लेकिन यह जानना भी बहुत जानना है कि मैं स्वयं को नहीं जानता हूँ, और इसीलिए मैं द्वार खोलता हूँ, लेकिन स्मरण रहे कि दूसरे का द्वार खुलने से वस्तुतः कोई द्वार नहीं खुलता है !"

फिर द्वार खुले। बिजली की कौंध में युवक ने वृद्ध फकीर को सामने खड़ा देखा। उसका सौन्दर्य अपूर्व है। लेकिन वह बिलकुल नग्न है। वस्तुतः सौन्दर्य सदा ही निर्वस्त्र है। वस्त्र वहीं हैं, जहां कुरूपता है। युवक उसके चरणों में बैठ गया। उसने वृद्ध के चरणों पर सिर रखकर पूछा : "आनन्द क्या है ? आनन्द कहां है ?"

यह सुन वह वृद्ध पुनः हँसने लगा और बोला : "मेरे प्रिय ! आनन्द अशरणता में है। अशरण होते ही आनन्द की बाढ़ आ जाती है। मेरे चरण छोड़ दो, सबके चरण छोड़ दो। आनन्द को किसी की शरण में खोजते हो, यही भूल है। बाहर खोजते हो, यही भूल है। वस्तुतः उसे खोजते हो, यही भूल है। जो बाहर है, उसे खोजा जा सकता है। जो स्वयं में है, उसे कैसे खोजोगे ? सब खोज छोड़ो और देखो ! वह तो सदा से ही स्वयं में मौजूद है।"

फिर उस वृद्ध ने अपनी झोली में से दो फल निकाले और बोला : "मैं ये दो फल तुम्हें देता हूँ। ये बड़े अद्भुत फल हैं। पहले को खा लो तो तुम समझ सकते हो कि आनन्द क्या है और दूसरे को खा लो तो तुम स्वयं ही आनन्द हो सकते हो। लेकिन एक ही फल खा सकते हो। क्योंकि एक के खाते ही दूसरा विलीन हो जाता है। और स्मरण रहे कि दूसरा फल खाने पर आनन्द क्या है, यह नहीं जाना जा सकता है। अब चुनाव तुम्हारे हाथ में है ! बोलो; क्या चुनना है ?"

वह युवक थोड़ी देर झिझका, फिर बोला : "मैं आनन्द को पहले जानना चाहता हूँ, क्योंकि जाने बिना उसे पाया ही कैसे जा सकता है।"

वह वृद्ध फकीर फिर हँसने लगा और बोला : "मैं देखता हूँ, कि क्यों तुम्हारी भटकन इतनी लम्बी हो गई है। ऐसे तो वर्षों नहीं, जन्मों के बाद भी आनन्द नहीं पाया जा सकता। क्योंकि आनन्द के ज्ञान की खोज आनन्द की अभीप्सा ही नहीं है। आनन्द का ज्ञान और आनंदानुभूति तो विरोधी ध्रुव हैं। आनन्द का ज्ञान, आनन्द नहीं है। उलटे वही तो दुख है। आनन्द को जानना और स्वयं आनन्द न होना, यही तो दुख है। इसीलिए तो मनुष्य पौधों और पशु-पक्षियों से भी कहीं ज्यादा दुखी है। लेकिन अज्ञान भी आनन्द नहीं है। वह केवल दुख के प्रति मूर्च्छा है। आनन्द तो है ज्ञान और अज्ञान दोनों के अतिक्रमण में। अज्ञान है, दुख के प्रति मूर्च्छा। ज्ञान है, दुख के प्रति बोध। आनन्द है, ज्ञान और अज्ञान दोनों से मुक्ति। ज्ञान और अज्ञान, दोनों के अतिक्रमण का अर्थ है : मन से ही मुक्ति। और मन से मुक्त होते ही व्यक्ति स्वयं में आ जाता है। वह स्वरूप-प्रतिष्ठा ही आनंद है। वही मोक्ष है। वही परमात्मा है।"

४७

एक मित्र साधु हो गए हैं। साधु होने के बाद आज पहली बार ही मिलने आए थे। उन्हें गैरिक वस्त्रों में देखा तो मैंने कहा : "मैं तो सोचता था कि सच ही तुम साधु हो गए हो ! लेकिन यह क्या ? ये वस्त्र क्यों रंग डाले हैं ?" मेरे अज्ञान पर मुस्कुराते हुए वे बोले : "साधु का अपना वेश होता है।" यह सुन मैं सोच में पड़ गया तो उन्होंने कहा : "इसमें सोच की क्या बात है ?" मैंने कहा : "बहुत सोच की बात है। क्योंकि साधु का कोई वेश नहीं है और जहाँ वेश है, वहाँ साधु नहीं है।" शायद मेरी बात वे समझे नहीं और उन्होंने पूछा : "साधु कुछ तो पहनेगा ही, या आप चाहते हैं, साधु नग्न ही रहे ?" मैंने कहा : "पहनने की मनाही नहीं है, न पहनने की शर्त नहीं है। प्रश्न कुछ विशेप पहनने या कुछ भी न पहनने के आग्रह का है। मित्र, वेश वस्त्रों में नहीं, आग्रह में है।" वे बोले : "वेश से स्मृति रहती है कि मैं साधु हूँ।" अब हँसने की मेरी बारी थी। मैंने कहा : "मैं जो हूँ, उसकी स्मृति रखनी ही नहीं होती है। मैं जो नहीं हूँ. उसकी ही स्मृति को सँभालना पड़ता है। और फिर जो साधुता वस्त्रों से याद रहे, क्या वह भी साधुता है ? वस्त्र तो बहुत ऊपर हैं और उथले हैं। चमड़ी भी गहरी नहीं है। मांस-मज्जा भी बहुत गहरी नहीं हैं। मन भी गहरा नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त और कोई ऐसी गहराई नहीं है, जो साधुता का आवास बन सके। और स्मरण रहे कि ऊपर जिनकी दृष्टि है, वे भीतर से वंचित रह जाते हैं। वस्त्रों पर जिनका ध्यान है, वे उस ध्यान के कारण ही आत्मा के ध्यान में नहीं हो पाते हैं। संसार और क्या है ? वस्त्रों पर केन्द्रित चित्त ही तो संसार है। जो वस्त्रों से मुक्त हो जाता है, वही साधु है।"

फिर उनसे मैंने एक कहानी कही : "एक बहुरुपिए ने किसी सम्राट् के द्वार पर जाकर कहा : 'पाँच रुपए दान में चाहिए।" सम्राट् बोला : "मैं कलाकार को पुरस्कार तो दे सकता हूँ, लेकिन दान नहीं।" बहुरुपिया मुस्कराया और वापस लौट गया। लेकिन जाते-जाते कह गया : "महाराज, मैं भी दान ले सका तभी पुरस्कार लूंगा। कृपा कर इसे स्मरण रखिए।" बात

आई और गई। कुछ दिनों के बाद राजधानी में एक अद्भुत साधु के आगमन की खबर विद्युत् की भाँति फैली। नगर के बाहर एक युवा साधु 'समाधि-मुद्रा में बैठा था। न तो कुछ बोलता था, न आँखें ही खोलता था। और न हिलता-डुलता ही था। लोगों के झुंड के झुंड उसके दर्शन को पहुँच रहे थे। फूलों के, फलों के, मेवा-मिष्ठान्न के ढेर उसके पास लग गए थे, लेकिन वह तो समाधि में था और उसे कुछ भी पता नहीं था। एक दिन बीत गया। दूसरा दिन भी बीत गया। भीड़ रोज बढ़ती ही जाती थी। तीसरे दिन सुबह स्वयं सम्राट् भी साधु के दर्शन को गए। उन्होंने एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ साधु के चरण में रख आशीर्वाद की प्रार्थना की। किन्तु साधु तो पर्वत की भाँति अचल था। कोई भी प्रलोभन उसे डिगाने में असमर्थ था। सम्राट् भी असफल होकर राजमहल लौट गए। साधु का चारों ओर जय-जयकार हो रहा था। लेकिन चौथे दिन लोगों ने देखा कि रात्रि में साधु विलीन हो गया था। उस दिन सम्राट् के दरबार में वह बहुरुपिया उपस्थित हुआ और बोला : "एक लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान तो आप मेरे सामने कर ही चुके हैं, अब मेरा पाँच रुपए का पुरस्कार मुझे मिल जाय!" सम्राट् तो हैरान हो गया। उसने बहुरुपिए से कहा : "पागल, तूने एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ क्यों छोड़ीं? और अब पाँच रुपए माँग रहा है!" बहुरुपिए ने कहा : "महाराज, जब आपने दान नहीं दिया था, तो मैं भी दान कैसे स्वीकार करता? बस अपने श्रम का पुरस्कार ही पर्याप्त है। फिर तब मैं साधु था। झूठा ही सही, तो भी साधु था। और साधु के वेश की लाज रखनी आवश्यक थी!"

इस कहानी पर विचार करने से बहुत-सी बातें खयाल में आती हैं। बहु-रुपिए साधु हो सकते हैं। क्यों? क्योंकि साधुओं के तथाकथित वेश में बहुरुपियों को सुविधा है। वेश जहाँ महत्त्वपूर्ण है, वहाँ सहज ही बहुरुपियों को सुविधा है। फिर वह बहुरुपिया तो साधु-चित्त था, इसीलिए एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ छोड़कर पाँच रुपए लेने को राजी हुआ, लेकिन सभी बहुरुपियों से इतने साधु-चित्त होने की आशा करनी उचित नहीं है! सम्राट् धोखे में पड़ा, वेश के कारण। वेश धोखा दे सकता है, इसीलिए धोखा देनेवालों ने वेश को प्रधान बना लिया है। और जब व्यक्ति दूसरों को धोखा देने में सफल हो जाता है, तो फिर वह सफलता स्वयं को भी धोखा देने का सुदृढ़ आधार बन जाती है।

कहते हैं : "सत्यमेव जयते।" सत्य विजयी होता है। यह बड़ा खतरनाक मान-

दंड है, क्योंकि इसके कारण जो जीत जाता है, उसे सत्य मान लेने का विचार पैदा हो जाता है। सत्य सफल होता है तो फिर जो सफल होता है वही सत्य है, इस निष्पत्ति तक पहुँचने में मन को देर नहीं लगती है! ऐसी साधुता सत्य नहीं है, जिसे बहुरुपिए भी साध सकते हों। क्योंकि फिर बहु-रुपियों के लिए इससे सुगम साधना और कोई नहीं हो सकती है। बहुरुपिए साधु हो सकते हैं, तो साधु भी बहुरुपिए हो सकते हैं! वस्तुतः साधु का कोई वेश नहीं है। वेश तो बहुरुपिए का ही हो सकता है। और जब साधु का वेश ही नहीं है, तो वेश की लाज का तो अस्तित्व ही कहाँ है? वह स्मृति भी साधु की नहीं, बहुरुपिए की ही है! लेकिन ऐसी स्मृति भी उस बहुरुपिए की ही होगी जो स्वयं को बहुरुपिया ही जानता है। जिन्होंने स्वयं को बाह्य वेश के आधार पर साधु ही मान लिया है, वे तो रामलीला के ऐसे राम हैं, जिन्होंने स्वयं को राम ही मान लिया है! ऐसे एक राम को मैं जानता हूँ। रामलीला में राम बनने के बाद उन्होंने फिर राम का वेश कभी उतारा ही नहीं! किन्तु लोग उन्हें पागल कहते थे! बहुरुपिए साधु बन सकते हैं, किन्तु जब वे स्वयं को साधु ही समझने भी लगते हैं, तब वे बहुरुपिए ही नहीं, विक्षिप्त भी हो जाते हैं।

४८

एक सम्राट् आकंठ चिन्ता में डूबा हुआ था। चिन्ताएँ जब डुबाती हैं तो पूरा ही डुबाती हैं। क्योंकि एक चिन्ता जिस मार्ग से भीतर प्रवेश करती है, उसी मार्ग से और चिन्ताएँ भी प्रविष्ट हो जाती हैं। जो एक को मार्ग देता है, वह अनजाने ही अनेक को मार्ग दे देता है। इसीलिए चिन्ताएँ सदा भीड़ में आती हैं। अकेली एक चिन्ता से मिलन कभी भी किसी का नहीं होता है!

यह आश्चर्यजनक है कि सम्राट् अक्सर ही चिन्ता में डूबे रहते हैं, हालाँकि वस्तुतः सम्राट् तो केवल वे ही हैं जो चिन्ता से मुक्त हो गए हैं। चिन्ता की दासता इतनी बड़ी है कि एक साम्राज्य की शक्ति भी उसे पोंछ नहीं पाती। शायद इसी कारण साम्राज्यों की शक्ति भी चिन्ता की सेवा में ही सन्नद्ध हो जाती है!

मनुष्य सम्राट् होना चाहता है, शक्ति और स्वतंत्रता के लिए, किन्तु अंत में पाता है कि सम्राट् से ज्यादा अशक्त, परतंत्र और पराजित व्यक्ति कोई दूसरा नहीं है। क्योंकि दूसरों को दास बनानेवाला व्यक्ति अंततः स्वयं ही दासों का दास हो जाता है। हम जिसे बाँधते हैं, उससे हम स्वयं भी बँध जाते हैं। स्वतंत्रता के लिए दूसरों की दासता से ही मुक्ति नहीं, दूसरों को दास बनाने की वृत्ति से भी मुक्ति आवश्यक है।

वह सम्राट् भी ऐसे ही बँध गया था। जीतने तो वह स्वर्ग को निकला था, लेकिन जीतकर पाया था कि नर्क के सिंहासन पर बैठ गया है। अहंकार जो भी जीतता है, वह अंततः नर्क ही सिद्ध होता है। अहंकार स्वर्ग को तो जीत ही नहीं सकता, क्योंकि स्वर्ग तो वहीं है, जहाँ अहंकार नहीं है। अब इस स्वयं जीते हुए नर्क से वह मुक्त होना चाहता था। लेकिन स्वर्ग को पाना कठिन, खोना सरल है। नर्क को पाना सरल, खोना कठिन है। वह चिन्ताओं की लपटों से मुक्त होना चाहता था। कौन नहीं होना चाहता है? नर्क के सिंहासन पर कौन बैठे रहना चाहता है? लेकिन जो भी सिंहासन पर बैठना चाहते हैं, उन्हें नर्क के सिंहासन पर ही बैठना पड़ता है। और स्मरण रहे कि स्वर्ग में कोई सिंहासन नहीं है। नर्क के सिंहासन ही दूर से स्वर्ग के सिंहासन दिखाई पड़ते हैं!

रात और दिन, सोते और जागते, वह सम्राट् चिन्ताओं से लड़ रहा था। लेकिन एक हाथ से तो व्यक्ति चिन्ताओं को हटाता है, और हजारों हाथों से स्वयं ही उन्हें आमंत्रित भी करता रहता है ! उस सम्राट् को चिन्ताओं से भी छूटना था और चक्रवर्ती भी होना था ! शायद वह सोचता था कि चक्रवर्ती सम्राट् होकर ही वह चिन्ताओं से छूट सकेगा। मनुष्य की मूढ़ता ऐसे ही निष्कर्ष निकालती रहती है। इसीलिए उसे रोज नए राज्य चाहिए थे। संध्या का डूबता सूर्य उसकी साम्राज्य-सीमा को वहाँ न पावे, जहाँ उसने सुबह उगते समय पाया था ! वह चाँदी के सपने देखता और सोने की साँसें लेता था। जीवन के लिए तो ऐसे सपने और साँसें बहुत घातक हैं, क्योंकि चाँदी के सपने प्राणों पर जंजीरें बन जाते हैं और सोने की साँसें आत्मा में जहर घोलने लगती हैं। और महत्वाकांक्षा की मदिरा से आई बेहोशी को तो बस मृत्यु ही तोड़ पाती है।

सम्राट् के जीवन की दोपहरी बीत गई थी। जीवन-दिवस उतार पर था। मृत्यु अपने संदेश भेजने लगी थी। शक्ति रोज कम होती जाती थी और चिन्ताएँ रोज बढ़ती जाती थीं। उसके प्राण बड़े संकट में थे। मनुष्य युवावस्था में जो बोता है, बुढ़ापे में उसकी ही फसल उसे काटनी पड़ती है। विष के बीज बोते समय नहीं, फसल काटते समय ही कष्ट देते हैं। बीज में ही जो इस दुख को देख लेते हैं, वे बोते ही नहीं हैं। बीज से तो मुक्त हुआ जा सकता है, लेकिन बोने पर फसल को भी काटना ही पड़ता है। उससे बचने का कोई भी उपाय नहीं है। वह सम्राट् भी अपनी ही बोई फसलों के बीच में खड़ा था ! उनसे बचने को वह आत्मघात तक का विचार करता था, लेकिन सम्राट् होने का मोह और भविष्य में चक्रवर्ती सम्राट् होने की आशा, वह भी नहीं करने देती थी। जीवन तो वह खो सकता था, खो ही दिया था, लेकिन सम्राट् होना छोड़ना उसकी सामर्थ्य के बाहर की बात थी। वह वासना ही तो उसका जीवन थी। ऐसी वासनाएँ ही जो जीवन मालूम होती हैं, जीवन को नष्ट कर देती हैं।

एक दिन वह अपनी चिन्ताओं से पीछा छुडाने के लिए पर्वत के चरणों में स्थित हरियाली की ओर निकल गया था। लेकिन चिन्ता को छोड़ भागना तो चिता छोड़कर भागने से भी कठिन है। स्वयं की चिता से निकलकर तो कोई भाग भी सकता है, लेकिन चिन्ता से नहीं, क्योंकि चिता बाहर और चिन्ता

भीतर है। जो भीतर है, वह सदा साथ ही है। आप जहाँ हैं, वहीं वह है। स्वयं को आमूल परिवर्तित किए बिना उससे छुटकारा नहीं है। सम्राट् जंगल में घोड़े पर भागा चला जाता था। अचानक बाँसुरी के स्वर उसे सुनाई पड़े। स्वरों में कुछ था कि वह ठिठक गया और उस संगीत की दिशा में ही अपने घोड़े को ले चला। एक पहाड़ी झरने के पास, वृक्षों की छाया तले, एक युवा चरवाहा बाँसुरी बजाकर नाच रहा था। उसकी भेड़ें पास में ही विश्राम कर रही थीं। सम्राट् ने उससे कहा : " तू तो ऐसा आनन्दित है मानो तुझे कोई साम्राज्य मिल गया हो ?" वह युवक बोला : "दुआ कर कि परमात्मा मुझे कोई साम्राज्य न दे, क्योंकि अभी तो मैं सम्राट् हूँ, लेकिन साम्राज्य मिलने से कोई भी सम्राट् नहीं रह जाता है"। सम्राट् हैरान हुआ और उससे पूछा : "जरा सुनूँ तो कि तेरे पास क्या है, जिससे तू सम्राट् है।" वह युवक बोला : "संपत्ति से नहीं, स्वतंत्रता से व्यक्ति सम्राट् होता है। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, सिवा स्वयं के। मेरे पास मैं हूँ, और इससे बड़ी और कोई संपदा नहीं है। और फिर मैं सोच ही नहीं पाता हूँ कि मेरे पास क्या नहीं है, जो सम्राट् के पास है ? सौन्दर्य को देखने के लिए मेरे पास आँखें हैं। प्रेम करने के लिए मेरे पास हृदय है, और प्रार्थना में प्रवेश करने की क्षमता है। सूरज जितनी रोशनी मुझे देता है, उससे ज्यादा सम्राट् को नहीं देता और चाँद जितनी चाँदनी मुझ पर बरसाता है, उससे ज्यादा सम्राट् पर नहीं बरसाता है। खूबसूरत फूल जितने सम्राट् के लिए खिलते हैं, उतने ही मेरे लिए भी खिलते हैं। सम्राट् पेट भर खाता और तन भर पहनता है। मैं भी वही करता हूँ। फिर सम्राट् के पास क्या है, जो मेरे पास नहीं है? शायद, साम्राज्य की चिन्ताएँ—लेकिन उनसे परमात्मा बचाये, क्योंकि चिन्ता से तो चिता बेहतर है। हाँ, बहुत-कुछ मेरे पास जरूर है जो सम्राट् के पास नहीं है; मेरी स्वतंत्रता, मेरी आत्मा, मेरा आनन्द, मेरा नृत्य, मेरा संगीत। मैं जो हूँ, उससे आनन्दित हूँ और इसलिए मैं सम्राट् हूँ।"

सम्राट् ने उस युवक की बातें सुनी और बोला : "प्यारे युवक ! तू ठीक कहता है। जा, अपने गाँव में सबसे कह दे कि सम्राट् भी यही कह रहा था !"

नंदी को एक वृक्ष के नीचे रोक वे विचार करने लगे। अब तक नंदी चुप था। अब वह हँसा और बोला: "एक रास्ता मैं बताऊँ? अब आप दोनों मुझे अपने सिरों पर उठा लीजिए।" यह सुनते ही शंकर और पार्वती को होश आया और दोनों फिर नंदी पर सवार हो गए। लोग फिर भी कुछ न कुछ कहते निकलते रहे। असल में लोग बिना कुछ कहे निकल भी कैसे सकते हैं? अब शंकर और पार्वती चाँदनी की सैर का आनन्द लूट रहे थे और भूल गए थे कि मार्ग पर कोई और भी निकल रहा है!

जीवन में यदि कहीं पहुँचना हो तो राह में मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की बात पर ध्यान देना आत्मघातक है।

वस्तुतः जिस व्यक्ति की सलाह का कोई मूल्य है, वह कभी बिना माँगे सलाह देता ही नहीं है।

और यह भी स्मरण रहे कि जो स्वयं के विवेक से नहीं चलता है, उसकी गति हवा के झोंकों में उड़ते सूखे पत्तों की भाँति हो जाती है।

५०

एक व्यक्ति ने कन्फ्यूसियस से जाकर कहा : "मैं बहुत थक गया हूँ। अब विश्रान्ति चाहता हूँ। क्या कोई मार्ग है ?" कन्फ्यूसियस ने उससे कहा : "जीवन और विश्रान्ति विरोधी शब्द हैं। जीवन चाहते हो तो विश्रान्ति मत चाहो। विश्रान्ति तो मृत्यु है।" उस व्यक्ति के माथे पर चिंता की रेखाएँ सिमट आईं और उसने पूछा : "तो क्या मुझे विश्रान्ति कभी मिलेगी ही नहीं ?" कन्फ्यूसियस ने कहा : "मिलेगी, अवश्य मिलेगी।" उसने सामने फैले कब्रगाह की ओर संकेत करके कहा : "इन कब्रों को देखो। इन्हीं में विश्रांति है। इन्हीं में शांति है।"

ले थे।

मैं कन्फ्यूसियस से सहमत नहीं हूँ। जीवन और मृत्यु भिन्न-भि . नहीं हैं। जो है, वे उसकी ही आती-जाती श्वाँसों की भाँति हैं। जीवन न तो मात्र कर्म है, और न मृत्यु ही मात्र विश्रांति। वस्तुतः जो जीवन में हो, विश्रांति में नहीं है, वह मृत्यु में भी शांति में नहीं हो सकता है। क्या दिवस की अशांति रात्रि की निद्रा को भी अशांत नहीं कर देती है ? क्या जीवन भर की अशांति की प्रतिध्वनियाँ ही मृत्यु में भी पीड़ा नहीं देंगी ? मृत्यु तो वैसी ही होगी, जैसा कि जीवन है। वह जीवन की विरोधी नहीं, वरन् जीवन की ही पूर्णता है। जीवन में अकर्मण्यता न हो, यह तो ठीक है, क्योंकि वह तो जीते जी ही मुर्दा होना है। लेकिन जीवन मात्र कर्म ही हो, यह भी ठीक नहीं है। वह भी जीवन नहीं, जड़ता है—जड़ यांत्रिकता है। जीवन की परि पर कर्म हो और केन्द्र में अकर्म, तभी जीवन की परिपूर्णता फलित होती है बाहर कर्म, भीतर विश्रांति। बाहर गति, भीतर स्थिति। कर्मपूर्ण जब शांत आत्मा से संयुक्त होता है तभी पूर्ण मनुष्य का जन्म होता है का जीवन तो शांत होता ही है, उसकी मृत्यु भी मोक्ष बन जात

५१

मैं एक सभा में गया था। अछूतों की सभा थी। अछूत की कल्पना ही मेरे हृदय को आँसुओं से भर देती है। वहाँ पहुँचकर भी मैं बहुत दुखी और उदास था। मनुष्य ने मनुष्य के साथ यह क्या किया है ? मनुष्य-मनुष्य के बीच अलंघ्य दीवारें खड़ी करनेवाले लोग भी धार्मिक समझे जाते हैं ! धर्म का इससे अधिक पतन और क्या हो सकता है ? यदि यही धर्म है तो फिर अधर्म क्या है ? ऐसा प्रतीत होता है कि अधर्म के अड्डों ने धर्म की पताकाएँ चुरा ली हैं और शैतान के शास्त्र परमात्मा के शास्त्र बने हुए हैं।

धर्म भेद नहीं , अभेद है। धर्म द्वैत नहीं, अद्वैत है। धर्म तो दीवारें बनाने में नहीं, मिटाने में है। लेकिन तथाकथित धर्म भेद ही उपजाते रहे हैं और दीवारें ही बनाते रहे हैं। उनकी शक्ति मनुष्य को तोड़ने और विभाजित करने में ही सक्रिय रही है। निश्चय ही यह अकारण नहीं हुआ है। असल में मनुष्य को मनुष्य से अलग किए बिना न तो संगठन बन सकते हैं, और न शोषण ही हो सकता है। यदि मनुष्यता समान है और एक है, तो शोषण के मूलाधार ही नष्ट हो जाते हैं। शोषण के लिए तो असमानता अनिवार्य है, वर्ग और वर्ण आवश्यक हैं। इसीलिए, धर्म अनेक रूपों में असमानता के, वर्गों और वर्णों के समर्थक रहे हैं। वर्ग-वर्णहीन समाज तो अनायास ही शोषण-विरोधी हो जाता है। मनुष्यता की समानता को स्वीकार करना शोषण को अस्वीकार करना है।

फिर मनुष्य-मनुष्य में भेद डाले बिना संगठन और संप्रदाय भी नहीं बन सकते हैं। भेद से भय आता है, द्वेष और घृणा आती है, और अंततः शत्रुता पैदा होती है। शत्रुता से संगठन जन्मते हैं। संगठन मित्रता से नहीं, शत्रुता से जन्मते हैं। प्रेम नहीं, घृणा ही उनकी आधारशिला है। शत्रुता के भय से संगठन पैदा होते हैं। संगठन शक्ति देते हैं। शक्ति शोषण का सामर्थ्य बनती है और अधिकार लिप्सा की तृप्ति भी। वही फैलकर साम्राज्य-लिप्सा भी बन जाती है। धर्म ऐसे ही छिपे-छिपे राजनीति बन जाते हैं। धर्म आगे चलता है, राजनीति पीछे चलती है। धर्म आवरण ही रह जाता है और

राजनीति प्राण बन जाती है। वस्तुतः जहाँ संगठन हैं, संप्रदाय हैं, वहाँ धर्म नहीं है, बस राजनीति ही है। धर्म तो साधना है। वह संगठन नहीं है। अनेक धर्म-संगठनों के नाम से भिन्न-भिन्न राजनीतियाँ ही अपनी चालें चलती रहती हैं। संगठन के अभाव में धर्म तो हो सकता है, लेकिन धर्म नहीं हो सकते हैं और न ही हो सकते हैं, पुजारी और पुरोहित और उनका व्यवसाय। परमात्मा को भी व्यवसाय बना लिया गया है। उसके साथ भी न्यस्तस्वार्थ संबंधित हो गए हैं। इससे ज्यादा अशोभन और अधार्मिक क्या हो सकता है? लेकिन प्रचार की महिमा अपार है और सतत प्रचार से निपट असत्य भी सत्य बन जाते हैं! फिर जो पुजारी, पुरोहित स्वयं शोषण में हैं, वे यदि शोषण-व्यवस्था के समर्थक हों तो आश्चर्य ही क्या है? धर्मों ने समाज की शोषण-व्यवस्था के लिए भी सुदृढ़ स्तंभों का काम किया है। काल्पनिक सिद्धांतों का जाल बुनकर उन्होंने शोषकों को पुण्यात्मा और शोषितों को पापी सिद्ध किया है। शोषितों को समझाया गया है कि यह उनके दुष्कर्मों का फल है। सच ही धर्मों ने लोगों को खूब अफीम खिलाई है।

एक अछूत वृद्ध ने सभा के अंत में मुझसे पूछा था : "क्या मैं मंदिरों में आ सकता हूँ?"

मैंने कहा : "मंदिरों में? लेकिन किसलिए? परमात्मा तो स्वयं ही पुरोहितों के मंदिरों में कभी नहीं जाता है।"

प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा का और कोई मंदिर नहीं है। शेष सब मंदिर और मस्जिद पुरोहितों की ईजाद हैं। परमात्मा से उन मंदिरों का दूर का भी संबंध नहीं। परमात्मा और पुरोहितों में कभी बोल-चाल ही नहीं रहा। मंदिर पुरोहितों की, और पुरोहित शैतान की सृष्टि हैं। वे शैतान के शिष्य हैं। इस कारण ही उनके शास्त्र और संप्रदाय मनुष्य को मनुष्य से लड़ाने के केन्द्र रहे हैं। उन्होंने बातें तो प्रेम की की हैं, और जहर घृणा का फैलाया है। असल में जहर शक्कर-चढ़ी गोलियों में देना ही आसान होता है। फिर भी मनुष्य पुरोहितों से सावधान नहीं है। जब भी उसे परमात्मा का स्मरण आता हैं, वह पुरोहितों के चक्कर में पड़ जाता है। मनुष्य के परमात्मा से संबंध क्षीण होने का आधारभूत कारण यही है। पुरोहित सदा से ही परमात्मा की हत्या करने में संलग्न रहे हैं। उनके अतिरिक्त परमात्मा का हत्यारा और कोई भी नहीं है। परमात्मा को चुनना है तो पुजारी को नहीं

चुना जा सकता है। उन दोनों की पूजा एक ही साथ नहीं की जा सकती। पुजारी जैसे ही मंदिर में प्रवेश करता है, वैसे ही परमात्मा मंदिर से बाहर हो जाता है। परमात्मा से नाता जोड़ने के लिए पुरोहित से मुक्त होना आवश्यक है। भक्त और भगवान के बीच वही बाधा है। प्रेम किसी को भी बीच में पसंद नहीं करता है।

एक भोर की बात है। अभी अँधेरा ही था। जैसे ही मंदिर के द्वार खुले कि एक अछूत मंदिर की सीढ़ियाँ चढ़कर द्वार पर पहुँच गया। वह द्वार के भीतर पैर रखने को ही था कि पुजारी क्रोध से गरजा : "रुक, रुक, पामर ! एक पग भी आगे बढ़ाया तो तेरा सर्वनाश हो जायगा। मूढ़ ! परमात्मा के मंदिर की पवित्र सीढ़ियाँ तूने अपवित्र कर दी हैं।" सहमे हुए अछूत ने उठा हुआ पैर वापस ले लिया। उसकी आँखों में आँसू आ गए। परमात्मा के लिए उसके प्यासे हृदय में जैसे किसी ने छुरी भोंक दी थी। वह रोता हुआ बोला : "हे परमात्मा, मेरा ऐसा कौन-सा पाप है, जिसके कारण तेरे दर्शन मुझे नहीं हो सकते हैं ?" परमात्मा की ओर से पुजारी ने कहा : "तू जन्म से अशुद्ध है, पाप-भंडार है।" उस अछूत ने प्रार्थना की : "फिर मैं शुद्धि के लिए साधना करूँगा, लेकिन प्रभु-दर्शन के बिना नहीं मरना चाहता हूँ।" और फिर वर्षों तक उस अछूत का कोई पता न चला। वह न मालूम कहाँ चला गया था। लोग उसे भूल ही गए थे और तब अचानक एक दिन वह गाँव में आया। गाँव के प्रवेश-द्वार पर ही वह देवालय था। पुजारी ने उसे देवालय के पास से जाते देखा। एक अपूर्व तेज उसके चेहरे पर था। एक अपूर्व शांति उसकी आँखों में थी। उसके आसपास भी जैसे प्रकाश का एक मंडल था। लेकिन उसने देवालय की ओर आँख भी उठाकर नहीं देखा। वह उस ओर से बिलकुल निरपेक्ष और असंग दीख रहा था। लेकिन पुजारी से न रहा गया। उसने उसे पुकारा और पूछा : "क्यों रे; क्या शुद्धि की साधना पूरी कर ली ?" यह अछूत इस पर हँसा और उसने स्वीकृति में सिर हिलाया। पुजारी ने पूछा : "फिर मंदिर में क्यों नहीं आता ?" वह अछूत बोला : "महाराज, क्या करूँ आकर ? प्रभु ने दर्शन दिए तो कहा : मेरी खोज में मंदिर क्यों गया था ? वहाँ कुछ भी नहीं है। मैं तो स्वयं ही कभी उन मंदिरों में नहीं गया हूँ। और जाऊँ भी तो क्या पुजारी मुझे वहाँ घुसने दे सकते हैं !"

५२

एक करोड़पति ने बहुत-से मंदिर बनवाए हैं। मेरे परिचित हैं और बड़ी आशा से उन्होंने धर्म में पूंजी लगाई है। बड़े कुशल व्यवसायी हैं और एक के दस कमाने के अभ्यस्त हैं। धर्म के धंधे में भी वे किसी से पीछे नहीं रहना चाहते। असल में पीछे रहने की उन्हें आदत ही नहीं। धन में पीछे नहीं रहे, तो धर्म में पीछे कैसे रहें? इस लोक में तो आगे और ऊपर हैं ही, परलोक की व्यवस्था भी कर ली है। स्वर्ग निश्चित है, इसीलिए वे भी निश्चिन्त हैं। धन से धरती ही नहीं, स्वर्ग भी खरीदा जाता है। इसीलिए ही तो धन की इतनी महिमा है। धन धर्म से भी ऊपर है। क्योंकि धर्म से धन तो नहीं, लेकिन धन से धर्म जरूर ही खरीदा जा सकता है। और जब धन से धर्म मिल सकता है, तो अधर्म से धन इकट्ठा करने का भय भी मिट जाता है। वैसे बिना अधर्म के धन इकट्ठा ही नहीं होता है। धन मूलतः चोरी है। धन शोषित रक्त ही है। लेकिन धर्म की गंगा में सब पाप धुल जाते हैं। धर्म की गंगा वहीं बहने लगती है, जहाँ धन के भगीरथ इशारा करते हैं। इस भाँति धर्म ही अधर्म का आधार बन जाता है। लेकिन धर्म अधर्म का आधार कैसे बन सकता है? निश्चय ही ऐसा धर्म, धर्म नहीं है। धन से जो खरीदा जा सके, वह धर्म नहीं है।

मैंने सुना है :

एक प्रभात किसी धनपति ने स्वर्ग का द्वार खटखटाया।

चित्रगुप्त ने पूछा—"बन्धु, कौन हो?"

"मैं? मुझे नहीं जानते? क्या यहाँ तक मेरे स्वर्गवासी होने की खबर अभी तक नहीं पहुँची है?"

चित्रगुप्त ने पूछा : "आप चाहते क्या हैं?"

उस धनपति ने क्रोध से कहा : "क्या यह भी कोई पूछने की बात है? मैं स्वर्ग में प्रवेश चाहता हूँ।" और यह कहकर उसने रुपयों का एक बंडल अपने कोट से निकालकर चित्रगुप्त को देना चाहा। चित्रगुप्त यह देख खूब हँसे और कहा : "बंधु, पृथ्वी की आदतें यहाँ काम नहीं दे सकती हैं! और न

वहाँ के सिक्के ही यहाँ चलते हैं। कृपाकर अपने रुपए अपने पास ही वापस रख लें।" किंतु, इससे तो धनपति एकदम दरिद्र और दीन हो गया। जिस शक्ति के बल पर गर्मी थी, वही निसत्व सिद्ध हो गई थी।

चित्रगुप्त ने पूछा : "स्वर्ग-प्रवेश के योग्य क्या काम किया है आपने ?"

धनपति ने बहुत खोज-बीनकर कहा : "एक बुढ़िया को दस पैसे दान में दिए थे।"

चित्रगुप्त ने तुरंत अपने सहकारी से पूछा : "क्या यह बात सत्य है ?"

सहकारी ने कागजों को देखभालकर कहा : "जी हाँ, यह बात सच है।"

चित्रगुप्त ने धनपति से पुनः पूछा : "इसके अलावा और आपने क्या किया है ?"

धनपति ने फिर याद करके कहा : "एक अनाथ लड़के को पाँच पैसे दिए थे।"

सहकारी ने कागजातों में खोजा तो यह बात भी सच थी।

चित्रगुप्त ने पूछा : "और कुछ ?"

धनपति ने कहा : "बस, यही दो बातें याद आ रही हैं।"

चित्रगुप्त ने अपने सहकारी से पूछा : "क्या किया जाय ?"

सहकारी ने कहा : "पन्द्रह पैसे वापस कर दिए जायँ और नर्क भेज दिया जाय। पन्द्रह पैसे में तो स्वर्ग बहुत सस्ता है !"

लेकिन क्या और ज्यादा पैसों में स्वर्ग मिल सकता है ? पैसा तो पैसा ही है। एक के ऊपर एक रखने से चाहे ढेर बड़ा हो जाय, लेकिन पैसा तो फिर भी पैसा ही है !

वस्तुतः धर्म को किसी भी भाँति खरीदा ही नहीं जा सकता है। न थोड़े धन से, न ज्यादा धन से। क्योंकि धन का सिक्का धर्म के जगत में नहीं चलता है। धन के त्याग से भी धर्म को नहीं खरीदा जा सकता है। क्योंकि धन के त्याग से खरीदना भी धन से ही खरीदना है। धर्म के मूल्यों में धन का कोई भी मूल्य नहीं है। धन की भाषा ही धर्म के लिए असंगत है। जो भी खरीदा जा सकता है, वह स्वरूप नहीं है। स्वरूप ही धर्म है और स्वरूप ही स्वर्ग है। वह स्वयं के बाहर नहीं है। वह तो स्वयं में सदा ही उपस्थित है। धर्म में प्रवेश नहीं करना है, वरन् जागकर जानना है कि मैं तो सदा से ही धर्म में हूँ। मछली जैसे सागर में है वैसे ही हम धर्म में हैं। लेकिन नींद में मछली

सागर में होते हुए भी सागर के वाहर हो जाती है। यही हमारी दशा है। संसार में होना स्वप्न में होना है। भोग और त्याग सव स्वप्न हैं। महल और मंदिर सव स्वप्न हैं। न तो स्वप्न में वनाए महल और न मंदिर ही जागरण को ला सकते हैं। जागरण का मार्ग और ही है। वह तो चेतना को दृश्य से दृष्टा की ओर लाने में निहित है। ध्यान दृश्य में जितना लीन होता है, निद्रा उतनी ही गहरी हो जाती है। और ध्यान जितना दृष्टा की ओर गतिमय होता है, जागरण उतना ही निकट आता है। ध्यान जव अपनी समग्रता में दृष्टा पर आ जाता है, तव दृश्य और दृष्टा सव विलीन हो जाते हैं और जो समग्रता शेष रह जाती है, वही धर्म है। वही सत्य है। वही मोक्ष है।

५३

सत्य की खोज में पहला सत्य क्या है ? व्यक्ति जो है, जैसा है, उसे स्वयं को वैसा ही जानना पहला सत्य है। यह सीढ़ी का पहला पाया है। किन्तु अधिकांशत: सीढ़ियों में यह पहला पाया ही नहीं होता है और इसलिए वे केवल देखने मात्र के लिए सीढ़ियाँ रह जाती हैं। उनसे चढ़ना नहीं हो सकता है। कोई चाहे तो उन्हें कंधों पर ढो सकता है, लेकिन उनसे चढ़ना असंभव है।

मनुष्य औरों को धोखा देता है, स्वयं को धोखा देता है और परमात्मा को भी धोखा देना चाहता है। फिर इस धोखे में वह स्वयं ही खो जाता है। जिस धुएँ से उसकी आँखें अंधी हो जाती हैं, उसे वह स्वयं ही पैदा करता है।

क्या हमारी सभ्यता, संस्कृति और धर्म ऐसे ही धोखों के सुन्दर नाम नहीं हैं ? क्या इन सब धुएँ के भीतर हमने अपनी असभ्यता, असंस्कृति और अधर्म को ही छिपाने की असफल चेष्टा नहीं की है ? और परिणाम क्या हुआ है ? परिणाम यह है कि सभ्यता के कारण ही हम सभ्य नहीं हो पाते हैं, और धर्म के कारण ही धार्मिक नहीं हो पाते हैं। क्योंकि असत्य कभी सत्य तक ले जानेवाला मार्ग नहीं बन सकता है। सत्य ही सत्य का द्वार है। स्वयं के प्रति सारी वंचनाओं को छोड़ने से ही सत्य का मार्ग निष्कंटक और निरवरोध हो सकता है। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अंतत: स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता है। एक न एक दिन धोखे टूट ही जाते हैं और सत्य प्रकट होते हैं। इसीलिए आत्म-वंचना अंतत: आत्मग्लानि में परिणत होती है। किन्तु पूर्व बोध जो कर सकता है, वह पश्चात्ताप नहीं कर सकता है।

मैं क्यों धोखा देना चाहता हूँ ?

क्या सब धोखों के पीछे भय ही नहीं है ?

लेकिन क्या धोखों मे भय की मूल जड़ नष्ट होती है ? धोखे से उलटे वे जड़ें और दब जाती हैं, और गहरी हो जाती हैं। इस भाँति वे मरती नहीं, और सप्राण और सशक्त होती हैं। इसीलिए फिर उन्हें ढांकने और छिपाने को और भी बड़े धोखे आविष्कार करने होते हैं। और फिर धोखों का एक अंतहीन सिलसिला शुरू होता है, जिससे भीरुता बढ़ती ही चली जाती है और व्यक्ति

दीनता और कायरता का पुंज मात्र रह जाता है। फिर तो वह स्वयं से भी भय खाने लगता है। यह भय नरक बन जाता है।

जीवन में भय के कारण वंचनाएं ओढ़ना उचित नहीं है। उचित है भय के मूल कारण को खोजना। भय को दबाना नहीं, उघाड़ना आवश्यक है। दबे हुए भय से मुक्ति असंभव है। भय को जानकर, उघाड़कर ही, उससे मुक्त हुआ जा सकता है।

इसलिए ही साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण मानता हूँ। जीवन के मंदिर में पीछे से घुसने के लिए कोई द्वार नहीं है। परमात्मा केवल उसका ही स्वागत करता है जो साहसपूर्वक संघर्ष करता है।

इंग्लैण्ड के एक महानगर में शेक्सपियर का कोई नाटक चल रहा था। बहुत वर्षों पहले की बात है। तब सज्जनों के लिए नाटक देखना पाप समझा जाता था और धर्म-पुरोहितों के तो देखने का सवाल ही नहीं था। धर्म का तो ठेका ही उन्हीं का है। लेकिन एक पादरी नाटक देखने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा था। उसने वही विधि खोजी, जो हम सब जीवन में खोजते हैं। उसने थियेटर हाल के मैनेजर को लिखकर पूछा : "क्या आप नाटक के पिछले द्वार से मेरे प्रवेश का इंतजाम कर सकेंगे, ताकि कोई मुझे न देख सके ?" मैनेजर का जवाब आया : "खेद है, यहाँ कोई ऐसा दरवाजा नहीं है, जो ईश्वर को नजर न आता हो !"

मैं भी यही आपसे कहना चाहता हूँ। सत्य में प्रवेश के लिए पीछे का कोई द्वार नहीं है। परमात्मा सब द्वारों पर खड़ा है।

५४

एक यात्रा की बात है। कुछ वृद्ध स्त्री-पुरुष तीर्थ जा रहे थे। एक संन्यासी भी उनके साथ थे। मैं उनकी बात सुन रहा था। संन्यासी उन्हें समझा रहे थे : "मनुष्य अंत समय में जैसे विचार करता है, वैसी ही उसकी गति होती है। जिसने अंत सँभाल लिया, उसने सब सँभाल लिया। मृत्यु के क्षण में परमात्मा का स्मरण होना चाहिए। ऐसे पापी हुए हैं, जिन्होंने भूल से अन्त समय में परमात्मा का नाम ले लिया था और आज वे मोक्ष का आनन्द लूट रहे हैं।" संन्यासी की बात अपेक्षित प्रभाव पैदा कर रही थी। वे वृद्धजन अपने अंत समय में तीर्थ जा रहे थे और मनचाही बात सुन उनके हृदय फूले नहीं समाते थे। सच ही सवाल जीवन का नहीं, मृत्यु का ही है और जीवन भर के पापों से छूटने को भूल से ही सही, बस परमात्मा का नाम लेना ही पर्याप्त है। फिर वे तो भूल से नहीं, जान बूझ कर तीर्थ जा रहे थे। उनकी प्रसन्नता स्वाभाविक ही थी। इसी प्रसन्नता में वे संन्यासी की सेवा भी कर रहे थे।

मैं उनके सामने ही बैठा था। संन्यासी की बात सुनकर हँसने लगा तो संन्यासी ने सक्रोध पूछा : "क्या आप धर्म पर विश्वास नहीं करते हैं ?" मैंने कहा : "धर्म कहाँ है ? अधर्म के सिक्के ही धर्म बन कर चल रहे हैं। खोटे सिक्के ही विश्वास माँगते हैं, असली सिक्के तो आँख चाहते हैं। विश्वास की उन्हें आवश्यकता ही नहीं। विवेक जहाँ अनुकूल नहीं है, वहीं विश्वास माँगा जाता है। विवेक की हत्या ही तो विश्वास है। लेकिन न तो अंधे मानने को राजी होते हैं कि अंधे हैं और न विश्वासी ही राजी होते हैं। अंधों ने और अंधों के शोषकों ने मिलकर जो षड्यंत्र किया है, उसने करीब-करीब धर्म की जड़ ही काट डाली है। धर्म की साख है और अधर्म का व्यापार है। यह जो आप इन वृद्धों को समझा रहे हैं, क्या उस पर कभी विचार किया है ? जीवन कैसा ही हो, बस अंत समय में अच्छे विचार होने चाहिए ? क्या इससे भी अधिक बेईमानी की कोई बात हो सकती है। और क्या यह संभव है कि बीज नीम के, वृक्ष नीम का और फल आम के लगा रहे हैं ? जीवन कैसा है, उसका निचोड़ ही तो मृत्यु के समय चेतना के समक्ष हो सकता है। मृत्यु क्या है ? क्या वह

जीवन की ही परिपूर्णता नहीं है ? वह जीवन के विरोध में कैसे हो सकती है ? वह तो उसका ही विकास है। वह तो जीवन का ही फल है। ये कल्पनाएँ काम नहीं देंगी कि पापी अजामिल मरते समय अपने लड़के नारायण को बुला रहा था और इसलिए भूल से भगवान का नाम उच्चरित हो जाने से सब पापों से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त हो गया था। मनुष्य का पापी मन क्या-क्या आविष्कार नहीं कर लेता है ? और इन भयभीत लोगों का शोषण करनेवाले व्यक्ति तो सदा ही मौजूद हैं ! फिर भगवान का क्या कोई नाम है ? भगवान की स्मृति तो एक भावदशा है। अहंकार-शून्यता की भावदशा ही परमात्मा की स्मृति है। जीवन भर अहंकार की धूल को जो स्वयं से झाड़ता है, वही अंततः अहं-शून्यता के निर्मल दर्पण को उपलब्ध कर पाता है। यह भूल से किसी नाम के उच्चार से तो हो ही नहीं सकता। यदि कोई किसी नाम को भगवान मान-कर जीवन भर धोखा खाता रहे तो भी उसकी चेतना भगवत्-चैतन्य से भरने की बजाय और जड़ता से ही भर जायगी। किसी भी शब्द की पुनरुक्ति-मात्र चेतना को जगाती नहीं, और सुलाती है। फिर अजामिल पता नहीं अपने नारायण को किस लिए बुला रहा था। बहुत संभव तो यही है कि अंत समय को निकट जानकर अपने जीवन की कोई अधूरी योजना उसे समझा जाना चाहता हो। अंतिम क्षणों में स्वयं के जीवन का केन्द्रीय तत्त्व ही चेतना के समक्ष आता है और आ सकता है।"

फिर एक घटना भी मैंने उनसे कही।

एक वृद्ध दुकानदार मृत्युशय्या पर पड़ा था। उसकी शय्या के चारों ओर उसके परिवार के शोकग्रस्त व्यक्ति जमा थे। उस वृद्ध ने अचानक आँखें खोलीं और बहुत विकल होकर पूछा :

"क्या मेरी पत्नी यहाँ है ?"

उसकी पत्नी ने कहा : "हाँ, मैं यहाँ हूँ।"

"और मेरा बड़ा लड़का ?"

"वह भी है।"

"और बाकी पाँचो लड़के ?"

"वे भी हैं।"

"और [illegible] ?"

"सभी यहीं हैं। तुम चिन्ता न करो और आराम से लेट जाओ।" प
ने कहा।

मरणासन्न रोगी ने बैठने की कोशिश करते हुए कहा—"फिर दुकान
कौन बैठा है ?"

५५

आप पूछते हैं : आनन्द कहाँ है ?

मैं एक कथा कहता हूँ। उस कथा में ही आपका उत्तर है।

एक दिन संसार के लोग सोकर उठे ही थे कि उन्हें एक अद्‌भुत घोषणा सुनाई पड़ी। ऐसी घोषणा इसके पूर्व कभी भी नहीं सुनी गई थी। किन्तु वह अभूतपूर्व घोषणा कहाँ से आ रही है, यह समझ में नहीं आता था। उसके शब्द जरूर स्पष्ट थे। शायद वे आकाश से आ रहे थे, या यह भी हो सकता है कि अंतस् से ही आ रहे हों। उनके आविर्भाव का स्रोत मनुष्य के समक्ष नहीं था।

"संसार के लोगो, परमात्मा की ओर से सुखों की निर्मूल्य भेंट ! दुखों से मुक्त होने का अचूक अवसर ! आज अर्धरात्रि में, जो भी अपने दुखों से मुक्त होना चाहता है, वह उन्हें कल्पना की गठरी में बाँधकर गाँव के बाहर फेंक आवे और लौटते समय वह जिन सुखों की कामना करता हो, उन्हें उसी गठरी में बाँधकर सूर्योदय के पूर्व घर लौट आवे। उसके दुखों की जगह सुख आ जायँगे। जो इस अवसर से चूकेगा, वह सदा के लिए ही चूक जायगा। यह एक रात्रि के लिए पृथ्वी पर कल्पवृक्ष का अवतरण है। विश्वास करो और फल लो। विश्वास फलदायी है।"

सूर्यास्त तक उस दिन यह घोषणा बार-बार दुहराई गई। जैसे-जैसे रात्रि करीब आने लगी, अविश्वासी भी विश्वासी होने लगे। कौन ऐसा मूढ़ था, जो इस अवसर से चूकता ? फिर कौन ऐसा था जो दुखी नहीं था और कौन ऐसा था, जिसे सुखों की कामना न थी ? सभी अपने दुखों की गठरियाँ बाँधने में लग गए। सभी को एक ही चिन्ता थी कि कहीं कोई दुख बाँधने से छूट न जाय। आधी रात होते-होते संसार के सभी घर खाली हो गए थे और असंख्य जन चींटियों की कतारों की भाँति अपने-अपने दुखों की गठरियाँ लिये गाँव के बाहर जा रहे थे। उन्होंने दूर-दूर जाकर अपने दुख फेंके कि कहीं वे पुनः न लौट आवें और आधी रात बीतने पर वे सब पागलों की भाँति जल्दी-जल्दी सुखों को बाँधने में लग गए। सभी जल्दी में थे कि कहीं सुबह न हो जाय और कोई सुख उनकी गठरी में अनबँधा न रह जाय।

सुख तो हैं असंख्य और समय था कितना अल्प ? फिर भी किसी तरह सभी संभव सुखों को बांधकर लोग भागते-भागते सूर्योदय के करीब अपने-अपने घरों को लौटे। घर पहुँचकर जो देखा तो स्वयं की ही आँखों पर विश्वास नहीं आता था ! झोंपड़ों की जगह गगनचुम्बी महल खड़े थे। सब कुछ स्वर्णिम हो गया था। सुखों की वर्षा हो रही थी। जिसने जो चाहा था, वही उसे मिल गया था। यह तो आश्चर्य था ही, लेकिन एक और महाआश्चर्य था ! यह सब पाकर भी लोगों के चेहरों पर कोई आनन्द नहीं था। पड़ोसियों का सुख सभी को दुख दे रहा था ! पुराने दुख चले गए थे—लेकिन उनकी जगह बिलकुल ही अभिनव दुख और चिन्ताएँ साथ में आ गई थीं। दुख बदल गए थे, लेकिन चित्त अब भी वही थे और इसीलिए दुखी थे ! संसार नया हो गया था, लेकिन व्यक्ति तो वही थे और इसलिए वस्तुतः सब कुछ वही था। एक व्यक्ति जरूर ऐसा था जिसने दुख छोड़ने और सुख पाने के आमंत्रण को नहीं माना था। वह एक नंगा वृद्ध फकीर था। उसके पास तो अभाव ही अभाव थे और उसकी नासमझी पर दया आकर सभी ने उसे भी चलने को बहुत समझाया था। जब सम्राट् भी स्वयं जा रहे थे तो उस दरिद्र को तो जाना ही था। लेकिन उसने हँसते हुए कहा था : "जो बाहर है वह आनन्द नहीं है, और जो भीतर है उसे खोजने कहाँ जाऊँ ? मैंने तो सब खोज छोड़कर ही उसे पा लिया है।" लोग उसके पागलपन पर हँसे थे और दुखी भी हुए थे। उन्होंने उसे वज्रमूर्ख ही समझा था। और जब उनके झोंपड़े महल हो गए थे और मणि-माणिक्य कंकड़-पत्थरों की भाँति उनके घरों के सामने पड़े थे, तब उन्होंने फिर उस फकीर को कहा था : "क्या अब भी अपनी भूल समझ में नहीं आई ?" लेकिन फकीर फिर हँसा था और बोला था : "मैं भी यही प्रश्न आप लोगों से पूछने की सोच रहा था ?"

५६

मैं एक ८४ वर्ष के बूढ़े आदमी की मरणशय्या के पास बैठा था। जितनी बीमारियाँ एक ही साथ एक व्यक्ति को होनी संभव हैं, सभी उन्हें थीं। एक लम्बे अर्से से वे असह्य पीड़ा झेल रहे थे। अंत में आँखें भी चली गई थीं। बीच-बीच में मूर्च्छा भी आ जाती थी। बिस्तर से तो अनेक वर्षों से नहीं उठे थे। दुख ही दुख था। लेकिन फिर भी वे जीना चाहते थे। ऐसी स्थिति में भी जीना चाहते थे। मृत्यु उन्हें अभी भी स्वीकार नहीं थी। जीवन चाहे साक्षात् मृत्यु ही हो, फिर भी मृत्यु को कोई स्वीकार नहीं करता है। जीवन का मोह इतना अंधा और अपूर्ण क्यों है? यह जीवेषणा क्या-क्या सहने को तैयार नहीं कर देती है? मृत्यु में ऐसा क्या भय है? और जिस मृत्यु को मनुष्य जानता ही नहीं, उसमें भय भी कैसे हो सकता है? भय तो ज्ञात का ही हो सकता है। अज्ञात का भय कैसा? उसे तो जानने की जिज्ञासा ही हो सकती है।

उन वृद्ध को जो भी देखने जाता था, उसके सामने ही रोने लगते थे। शिकायत ही शिकायत। मृत्यु-क्षण तक भी शिकायत नहीं मरती है? शायद, मृत्यु के बाद भी वे साथ देती हैं!

डाक्टरों, वैद्यों, हकीमों सभी से वे ऊब चुके थे, लेकिन अभी निराश नहीं हुए थे। किसी न किसी चमत्कार के बल पर आगे भी अभी जीने की उन्हें आशा थी।।

मैंने एकांत देखकर उनसे पूछा: "क्या आप अब भी जीना चाहते हैं?" निश्चय ही वे चौंके थे। सोचा होगा: यह कैसी अपशकुन की बात मैंने पूछी। फिर बड़े कष्ट से बोले थे: "अब तो परमात्मा से एक ही प्रार्थना है कि उठा ले!" लेकिन जो वे कह रहे थे, उस की असत्यता उनके चेहरे के कण-कण से प्रकट होती थी।

एक कथा मुझे स्मरण आई थी।

एक लकड़हारा था। दीन, दरिद्र, दुखी और वृद्ध। पेट भर पाने योग्य लकड़ियाँ भी वह अब नहीं काट पाता था। उसकी जीवन-शक्ति रोज-रोज

क्षीण होती जाती थी। संसार में आगे-पीछे भी उसका कोई नहीं था। जंगल में लकड़ियाँ काटकर एक दिन वह उन्हें बाँध रहा था। तभी उसके मुँह से निकला : "इस वृद्धावस्था के कष्टपूर्ण जीवन से छुटकारा दिलाने के लिए मौत भी मुझे नहीं आती !" अपने मुँह से इन शब्दों के निकलते ही उसने किसी को पीछे खड़ा हुआ अनुभव किया। कोई अदृश्य और अत्यंत ठंडा हाथ भी उसके कंधे पर था। उसके तन-प्राण काँप उठे। उसने मुड़कर देखा, कोई भी तो नहीं था। फिर भी कोई जरूर था। उसके कंधे पर ठंडे हाथ का भार स्पष्ट था। इसके पहले कि वह कुछ बोलता, वह अदृश्य शक्ति स्वयं ही बोली : "मैं मृत्यु हूँ। बोलो मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ ?" उस बूढ़े लकड़हारे की बोलती ही खो गई। सर्दी के दिन थे, लेकिन उसके शरीर से पसीना धारों में बहने लगा। किसी भाँति शक्ति जुटाकर उसने कहा : "हे देवी ! मुझ गरीब पर दया करो। मुझ से तुम्हें क्या काम है ?" मृत्यु ने कहा : "मैं हाजिर हूँ, क्योंकि तुमने मुझे स्मरण किया था !" उस वृद्ध लकड़हारे ने होश सँभाला और बोला : "क्षमा कर। मैं तो भूल ही गया। इस लकड़ियों के गट्ठर को उठाने में मेरी मदद कर दें। इसलिए ही आपको पुकारा था। भविष्य में एक तो मैं बुलाऊँगा ही नहीं, और भूल से यदि बुला भी लूँ तो भी आपको आने की आवश्यकता नहीं है। प्रभु-कृपा से मैं बहुत आनन्द में हूँ।"

मैं यह सोच ही रहा था कि एक व्यक्ति ने आकर उस वृद्ध को कहा : "एक फकीर आया है। उसकी चमत्कारिक शक्तियों की बड़ी चर्चा है। क्या आपको दिखाने के लिए मैं उन्हें बुला लाऊँ ?" वृद्ध के चेहरे पर आशा की चमक आ गई और वे किसी तरह उठकर बैठ गए और बोले : "फकीर कहाँ है ? जल्दी बुलावें। मैं ऐसा कोई ज्यादा बीमार भी तो नहीं हूँ। असल में डाक्टर ही मुझे मार डालेंगे। परमात्मा बचाना चाहता है, इसीलिए तो मैं उन सबके बावजूद बचा हूँ। प्रभु जिसे बचाना चाहता है, उसे कौन मार सकता है ?"

फिर मैंने विदा ली। किन्तु घर पहुँचा ही था कि पीछे से खबर पहुँची कि वे वृद्ध अब इस संसार में नहीं हैं !

एक करोड़पति ने महल बनवाया था। उसका जीवन बीतते-बीतते वह महल बनकर तैयार हुआ था। अक्सर ही ऐसा होता है। रहने के लिए जिसे बनाते हैं, उसे बनाने में ही रहनेवाला चूक जाता है। निवास तैयार करते हैं और समाधि तैयार होती है। यही हुआ था। महल तो बन गया था लेकिन बनानेवाले के जाने के दिन आ गए थे। किन्तु महल अद्वितीय बना था। अहंकार तो अद्वितीयता ही चाहता है। उसके लिए ही तो मनुष्य अपनी आत्मा भी खो देता है। 'अहं' जो है ही नहीं, सर्वप्रथम होकर ही तो स्वयं के होने का अनुभव कर पाता है। सौन्दर्य में, शिल्प में, सुविधा में--सभी भाँति वह भवन अद्वितीय था, और धनपति के पैर पृथ्वी पर नहीं पड़ रहे थे। राजधानी भर में उसकी ही चर्चा थी। जो भी देखता था मंत्रमुग्ध हो जाता था। अंततः स्वयं सम्राट् भी उसे देखने आया। वह भी अपनी आँखों पर विश्वास नहीं कर सका। उसके अपने महल भी फीके पड़ गए थे। भीतर तो उसे ईर्ष्या ही हुई पर ऊपर से उसने प्रशंसा ही की। धनपति ने तो इसकी ईर्ष्या को ही वस्तुतः प्रशंसा माना! सम्राट् की प्रशंसा का आभार मानते हुए उसने कहा : "सब परमात्मा की कृपा है।" लेकिन, हृदय में तो वह जानता था कि सब मेरा ही पुरुषार्थ है! सम्राट् को विदा देते समय द्वार पर उसने कहा : "एक ही द्वार मैंने महल में रखा है। ऐसे में चोरी असंभव है। कोई भीतर आवे या बाहर जावे, इसी द्वार से आना-जाना अनिवार्य है।" एक वृद्ध भी द्वार पर भीड़ में खड़ा था। भवन-पति की बात-सुनकर वह जोर से हँस पड़ा। सम्राट् ने उससे पूछा : "क्यों हँसते हो ?" वह बोला : "कारण भवनपति के कान में ही बता सकता हूँ!" फिर वह भवनपति के पास गया और कान में बोला : "महल के द्वार की तारीफ सुनकर ही मुझे हँसी आ गई थी। इस पूरे महल में वही तो एक खराबी है। मृत्यु उसी द्वार से आयगी और आपको बाहर ले जायगी। वह द्वार न होता तो सब ठीक था।"

जीवन के जो भी भवन मनुष्य बनाता है, उन सभी में यह खराबी रहती है। इसीलिए तो कोई भी भवन आवास सिद्ध नहीं होता है। एक द्वार

सभी में शेष रह जाता है, और वही मृत्यु का द्वार बन जाता है।

लेकिन क्या जीवन का ऐसा भवन संभव नहीं है, जिसमें मृत्यु के लिए कोई द्वार ही न हो?

हाँ, संभव है।

किन्तु उस भवन में दीवारें नहीं होती हैं, बस द्वार ही द्वार होते हैं। द्वार ही द्वार होने से द्वार दिखाई नहीं पड़ते हैं।

और मृत्यु वहीं आ सकती है, जहाँ द्वार है। जहाँ द्वार ही द्वार हैं, वहाँ द्वार ही नहीं हैं।

अहंकार जीवन में दीवार बनाता है। फिर स्वयं के आने-जाने के लिए उसे कम-से-कम एक द्वार तो रखना ही होता है। यही द्वार मृत्यु का भी द्वार है।

अहंकार का भवन मृत्यु से नहीं बच सकता है। उसमें एक द्वार सदा ही शेष है। वह स्वयं ही वह द्वार है। यदि वह एक भी द्वार न छोड़े तो भी मरेगा। वह आत्मघात है।

किन्तु, अहंकारशून्य जीवन भी है। वही अमृतजीवन है। क्योंकि मृत्यु को आने के लिए उसमें कोई द्वार ही नहीं है और न मृत्यु को गिराने के लिए उस भवन में कोई दीवार ही है।

अहंकार जहाँ नहीं है, वहाँ आत्मा है।

आत्मा है आकाश-जैसी असीम और अनन्त। और जो असीम है, और अनन्त है, वही अमृत है।

५८

मैं एक छोटे-से गाँव में अतिथि था। गाँव तो छोटा था, लेकिन उसमें मंदिर भी था, मस्जिद भी थी, गिरजा भी था। लोग बड़े धार्मिक थे और सुबह होते ही अपने-अपने पूजागृहों में जाते थे। रात्रि में भी पूजागृह से लौटकर ही सोते थे। सदा धार्मिक उत्सव भी होते रहते थे। लेकिन, उस गाँव का जीवन और गाँवों-जैसा ही था। धर्म और जीवन एक-दूसरे को छूते नहीं मालूम होते थे। जीवन का अपना रास्ता है और धर्म का अपना। दोनों समानान्तर चलते हैं, इसलिए उनके कहीं मिलने का सवाल ही नहीं है। परिणाम में धर्म निष्प्राण हो जाता है और जीवन अधर्म। जो सारी पृथ्वी पर हुआ है, वही उस गाँव में भी हुआ था। मैं एक-एक, दो-दो दिन गाँव के सभी पूजागृहों में गया और परमात्मा के तथाकथित भक्तों और पुजारियों के हृदय में झाँकने की चेष्टा की। उनकी आँखों में खोजा। उनकी प्रार्थनाओं में कुरेदा। उनसे बातें कीं। उनके जीवन में टटोला। उनका आना-जाना, उठना-बैठना देखा। उनमें से कुछ के घर भी गया। उनकी दुकानों पर भी बैठा। जागते में उन्हें समझा। निद्रा में भी उनकी बड़बड़ाहट सुनी। उनके पड़ोसियों से उनके संबंध में पूछा। एक भगवान के भक्तों से दूसरे भगवान के भक्तों के संबंध में सुना। एक मंदिर के पुजारियों से दूसरे मंदिर के पुजारियों के बाबत में जानकारी ली। एक धर्म के पंडितों से दूसरे धर्म के पंडितों के संबंध में चर्चा की। ज्ञात हुआ कि धार्मिक दीखनेवाला वह गाँव बिलकुल ही अधार्मिक था। धर्म का आवरण था, अधर्म का जीवन था। अधर्म के जीवन के लिए ही धर्म के आवरण की जरूरत थी। क्या हत्यागृहों को छिपाने के लिए ही पूजागृह नहीं हैं? परमात्मा के पुजारियों को परमात्मा से कोई भी संबंध नहीं था। परमात्मा को वे जरूर ही बचा कर रखना चाहते थे, क्योंकि परमात्मा पैसे लाता था। परमात्मा के भक्तों को भी परमात्मा से कोई प्रेम नहीं था। संसार की भय-भीतियों से वे परमात्मा में सुरक्षा खोज रहे थे, और संसार के प्रलोभनों में सहायक होने को वे उससे प्रार्थना कर रहे थे। जिनका यह जीवन बुझने को था, वे आगे के लिए उससे आश्वासन चाह रहे थे। सबका प्रेम सुख से था, भोग से था, संसार से

था और इसलिए उनकी कोई भी प्रार्थना परमात्मा की प्रार्थना नहीं थी। अपनी प्रार्थनाओं में वे परमात्मा को छोड़कर और सब-कुछ माँग रहे थे। वस्तुतः प्रार्थना में जब तक कोई माँग है, तब तक वह प्रार्थना परमात्मा के लिए है ही नहीं। प्रार्थना जब माँग से मुक्त होती है, तभी वह प्रार्थना बनती है। परमात्मा के लिए भी माँग हो, तो भी वह प्रार्थना परमात्मा की प्रार्थना नहीं रह जाती है। समस्त माँग से मुक्त होकर ही प्रार्थना परमात्मा से युक्त होती है। निश्चय ही ऐसी प्रार्थना स्तुति नहीं हो सकती है। स्तुति प्रार्थना नहीं, खुशामद है। स्तुति रिश्वत है। वह निम्न मन की अभिव्यक्ति तो है ही, साथ ही परमात्मा के प्रति धोखा भी है। और परमात्मा को धोखा देने से ज्यादा मूढ़ता और क्या हो सकती है? उस भाँति मनुष्य स्वयं ही स्वयं के हाथों ठगा जाता है।

मित्र, प्रार्थना माँग नहीं है। वह प्रेम है। वह आत्मदान है।

प्रार्थना स्तुति नहीं है। वह तो कृतज्ञता की अत्यंत निगूढ़ भाव-दशा है। और जहाँ भाव की प्रगाढ़ता है, वहाँ शब्द कहाँ?

प्रार्थना वाणी नहीं, मौन है। वह शून्य में समर्पण है। वह शब्द नहीं, शून्य का संगीत है। ध्वनियाँ जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं वह संगीत प्रारंभ होता है।

प्रार्थना पूजा नहीं है, और न ही प्रार्थना के कोई पूजागृह हैं। उसका बाहर से कोई संबंध नहीं। पर से उसका कोई नाता ही नहीं। वह तो स्वयं का ही अंतरतम जागरण है।

प्रार्थना क्रिया नहीं, चेतना है। वह करना नहीं, होना है।

प्रार्थना के लिए तो बस प्रेम का आविर्भाव ही चाहिए। उसके लिए परमात्मा की कल्पना भी अनावश्यक ही नहीं, बाधक भी है। जहाँ प्रार्थना है, वहाँ परमात्मा है। किन्तु जहाँ परमात्मा की कल्पना है, वहाँ उस कल्पना के कारण ही परमात्मा उपस्थित होने में असमर्थ हो जाता है।

सत्य एक है। परमात्मा एक है। किन्तु असत्य अनेक हैं, कल्पनाएँ अनेक हैं, और इसीलिए मंदिर अनेक हैं। इसीलिए तो मंदिर परमात्मा तक पहुँचने के लिए द्वार नहीं, दीवार ही बन जाते हैं।

प्रेम में ही जिसने परमात्मा का मंदिर नहीं पाया, उसे किसी भी मंदिर में परमात्मा नहीं मिल सकता है।

और प्रेम क्या है ? क्या वह परमात्मा के प्रति आसक्ति है ? आसक्ति प्रेम नहीं है। जहाँ आसक्ति है, वहाँ शोषण है। आसक्ति में दूसरा है साधन, साध्य है स्वयं। और प्रेम में तो वस्तुतः दूसरा है ही नहीं। किसी के प्रति का संबंध, अहं-संबंध है। और जहाँ अहंकार है, वहाँ परमात्मा कहाँ ? बस प्रेम है। वह किसी के प्रति नहीं है। वह तो बस है। प्रेम जहाँ किसी के प्रति है, वहाँ वह मोह है, आसक्ति है, वासना है। प्रेम जब बस है, तब वह वासना नहीं, प्रार्थना है। वासना सागर की ओर बहती नदियों की भाँति है। प्रेम सागर की भाँति है। वह किसी के प्रति बहाव नहीं है। वह तो स्वयं है। वह किसी के प्रति आकर्षण नहीं, वरन् स्वयं में ही होना है, और सागर की भाँति प्रेम ही प्रार्थना है। वासना बहाव है, खिचाव है, तनाव है। प्रार्थना स्थिति है। प्रार्थना स्वयं में विश्रांति है।

प्रेम अपनी पूर्णता में अकारण, अलक्ष्य और अप्रेरित स्फुरण है।

मैं ऐसे ही प्रेम को प्रार्थना कहता हूँ।

अन्यथा, हमारी सब प्रार्थनाएँ असत्य हैं, आत्मवंचनाएँ हैं।

एक कारागृह में फाँसी की सजा हुए किसी बंदी का आगमन हुआ था। शीघ्र ही उसकी प्रभु-भक्ति से सारा बंदीगृह गूंज उठा था। भोर के पूर्व ही उसकी पूजा और प्रार्थना प्रारंभ हो जाती थी। प्रभु के प्रति उसका प्रेम असीम था। प्रार्थना के साथ ही साथ उसकी आंखों से आँसुओं की अविरल धारा बहती रहती थी। प्रभु प्रेम से उपजे विरह की हार्दिकता तो उसके गीतों के शब्द-शब्द में थी। वह भगवान का भक्त था और बंदीजन उसके भक्त हो गए थे। कारागृह-अधिपति और अन्य अधिकारी भी उसका समादर करने लगे थे। उसके प्रभु-स्मरण का क्रम तो करीब-करीब अहर्निश ही चलता था। उठते-बैठते चलते भी उसके ओंठ राम का नाम लेते रहते थे। हाथ में माला के गुरिए घूमते रहते थे। उसकी चादर पर भी राम ही राम लिखा हुआ था। कारागृह-अधिपति जब भी निरीक्षण को आते थे, तभी उसे साधना में लीन पाते थे। लेकिन एक दिन जब वे आए तो उन्होने पाया कि काफी दिन चढ़ आया है और वह बंदी निश्चित सोया हुआ है। उसकी राम-नाम की चादर और माला भी उपेक्षित-सी एक कोने में पड़ी है। अधिपति ने सोचा शायद स्वास्थ्य ठीक नहीं है। किन्तु अन्य बंदियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्वास्थ्य तो ठीक है, लेकिन प्रभु-स्मरण कल संध्या से ही न मालूम क्यों बंद

है। अधिपति ने कैदी को उठाया और पूछा : "देर हुई, ब्रह्ममुहूर्त निकल गया है। क्या आज भोर की पूजा-प्रार्थना नहीं करनी है ?" वह बंदी बोला : "पूजा-प्रार्थना ? अब कैसी पूजा और कैसी प्रर्थना ? घर से कल ही पत्र मिला है कि फाँसी की सजा सात वर्ष के कारावास में परिणत हो गई है। भगवान से जो काम कराना चाहता था, वह पूरा हो गया है। उस बेचारे को अब व्यर्थ ही और तकलीफ देनी उचित नहीं है।"

५९

मनुष्य को परमात्मा तक पहुँचने से कौन रोकता है ?

और, मनुष्य को पृथ्वी से कौन बाँधे रखता है ?

वह शक्ति कौन-सी है, जो उसकी जीवन-सरिता को सत्ता के सागर तक नहीं पहुँचने देती है ?

मैं कहता हूँ : मनुष्य स्वयं। उसके अहंकार का भार ही उसे ऊपर नहीं उठने देता है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण नहीं, अहंकार का पाषाणभार ही हमें ऊपर नहीं उठने देता है। हम अपने ही भार से दबे हैं, और गति में असमर्थ हो गए हैं। पृथ्वी का वश देह के आगे नहीं है। उसका गुरुत्वाकर्षण देह को बाँधे हुए है। किन्तु अहंकार ने आत्मा को भी पृथ्वी से बाँध दिया है। उसका भार ही परमात्मा तक उठने की असमर्थता और अशक्ति बन गया है। देह तो पृथ्वी की है। वह तो उससे ही जन्मी है और उसमें ही उसे लीन हो जाना है। लेकिन आत्मा अहंकार के कारण परमात्मा से वंचित हो, व्यर्थ ही देहानुसरण को विवश हो जाती है।

और यदि आत्मा परमात्मा तक न पहुँच सके, तो जीवन एक असह्य पीड़ा में परिणत हो जाता है। परमात्मा ही उसका विकास है। वही उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति है। और जहाँ विकास में बाधा है, वहीं दुख है। जहाँ स्वयं की संभावनाओं के सत्य बनने में अवरोध है, वहीं पीड़ा है। क्योंकि स्वयं की पूर्ण अभिव्यक्ति ही आनंद है।

वह देखते हो ? उस दीए को देखते हो ? मिट्टी का मर्त्य दीया है, लेकिन ज्योति तो अमृत की है। दीया पृथ्वी का—ज्योति तो आकाश की है। जो पृथ्वी का है, वह पृथ्वी पर ठहरा है, लेकिन ज्योति तो सतत अज्ञात आकाश की ओर भागी जा रही है। ऐसी ही मिट्टी की देह है मनुष्य की, किन्तु आत्मा तो मिट्टी की नहीं है। वह तो मर्त्य दीप नहीं, अमृत ज्योति है। किंतु अहंकार के कारण वह भी पृथ्वी से नहीं उठ पाती है।

परमात्मा की ओर केवल वे ही गति कर पाते हैं, जो सब भाँति स्वयं से निर्भार हो जाते हैं।

एक कथा मैंने सुनी है :

एक अति दुर्गम और ऊँचे पर्वत पर परमात्मा का स्वर्ण मंदिर था। उसका पुजारी बूढ़ा हो गया था और उसने घोषणा की थी कि मनुष्य जाति में जो सर्वाधिक बलशाली होगा, वही नए पुजारी की जगह नियुक्त हो सकेगा। इस पद से बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं था। निश्चित तिथि पर बलशाली उम्मीदवारों ने पर्वतारोहण प्रारंभ किया। जो सबसे पहले पर्वत-शिखर पर स्थित मंदिर में पहुँच जायगा, निश्चय ही वही सर्वाधिक बलशाली सिद्ध हो जायगा। आरोहण पर निकलते समय प्रत्येक प्रतियोगी ने अपने बल का द्योतक एक-एक पत्थर अपने कंधे पर ले रखा था। जो जितना बलशाली स्वयं को समझता था, उसने उतना ही बड़ा पत्थर अपने कंधे पर उठा रखा था। महीनों की अति कठिन चढ़ाई थी। अनेक के प्राणों के जाने का भी भय था। शायद इसीलिए आकर्षण भी था और चुनौती भी थी। सैकड़ों लोग अपने-अपने भाग्य और पुरुषार्थ की परीक्षा के लिए निकल पड़े थे। जैसे-जैसे दिन बीतते गए, अनेक आरोही पिछड़ते गए। कुछ खाई-खड्डों में अपने पत्थरों को लिये गिर गए। कुछ श्रम और थकान से अपने-अपने पत्थरों को लिये संसार से कूच कर गए। फिर भी थके और क्लांत जो शेष थे, वे अदम्य लालसा से बढ़े जाते थे। जो गिरते जाते थे, उनके संबंध में चलनेवालों को विचार करने के लिए न समय था, न सुविधा थी। लेकिन एक दिन सभी आरोहियों ने आश्चर्य से देखा कि जो व्यक्ति सबसे पीछे रह गया था, वही तेजी से सबके आगे निकलता जा रहा है। उसके कंधे पर बल का द्योतक कोई भार नहीं था। निश्चय ही यही भारहीनता उसकी तीव्र गति बन गई थी। उसने अपने पत्थर को कहीं फेंक दिया था। वे सब उसकी मूढ़ता देख हँसने लगे थे, क्योंकि अपने पौरुष-चिह्न से रहित व्यक्ति के पर्वत-शिखर पर पहुँचने का अभिप्राय ही क्या हो सकता था?

फिर जब महीनों की कष्ट-साध्य चढ़ाई के बाद धीरे-धीरे सभी पर्वतारोही परमात्मा के मंदिर तक पहुँच गए तो उन्हें यह जानकर अपनी आँखों पर विश्वास ही नहीं हुआ कि उनका वही स्वल्प-सामर्थ्य साथी जो अपना पौरुष-भार फेंककर सबसे पहले मंदिर पर पहुँच गया था, नया पुजारी बना दिया गया है! लेकिन इसके पहले कि वे इस अन्याय की शिकायत करें, पुराने पुजारी ने उन सबका स्वागत करते हुए कहा : "परमात्मा के मंदिर में प्रवेश का

अधिकारी केवल वही है, जो स्वयं के अहंकार के भार से मुक्त हो गया है। इस युवक ने एक सर्वथा नवीन बल का परिचय दिया है। अहंकार का पाषाणभार वास्तविक बल नहीं है। और मैं आप सबसे सविनय पूछता हूँ कि पर्वतारोहण के पूर्व इन पत्थरों को कंधों पर ढोने की सलाह आपको किसने दी थी और कब दी थी ?"

आचार्य रजनीश का साहित्य

अज्ञात की ओर	२.००
अन्तर्यात्रा	प्रेस में
अन्तर्वीणा	५.००
अमृतकण	०.६०
अहिंसादर्शन	०.५०
अस्वीकृति में उठा हाथ (भारत, गाँधी और मेरी चिन्ता)	५.००
कामयोग, धर्म और गाँधी	३.००
क्रान्तिबीज	४.००
कुछ ज्योतिर्मय क्षण	१.००
गहरे पानी पैठ	५.००
गीतादर्शन : पुष्प १, २, ३, ५,	१७.००
जीवन और मृत्यु	१.००
जिन खोजा तिन पाइयाँ	२०.००
ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया	४.००
ढाई आखर प्रेम का	५.००
नए संकेत	२.००
नए मनुष्य के जन्म की दिशा	०.७५
पथ के प्रदीप	प्रेस में
परिवारनियोजन	०.७५
प्रभु की पगडंडियाँ	४.००
पूर्व का धर्म : पश्चिम का विज्ञान	०.५०
प्रेम के फूल	५.००
प्रेम और विवाह	१.५०
प्रेम है द्वार प्रभु का	८.००
महावीर : मेरी दृष्टि में	३०.००
मिट्टी के दीए	५.००
मैं कहता आँखन देखी	५.००
मैं कौन हूँ ? (द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)	३.००
मन के पार	१.००
शान्ति की खोज	२.००
साधनापथ	प्रेस में
सत्य का सागर शून्य की नाव	३ ००

सत्य की खोज	४.००
सत्य के अज्ञात सागर का आमन्त्रण	१.५०
सत्य की पहली किरण	६.००
समाजवाद से सावधान	४.००
सिंहनाद	१.५०
संभावनाओं की आहट	६.००
संभोग से समाधि की ओर	५.००
सूर्य की ओर उड़ान	१.००
सारे फासले मिट गए	१.२५
ज्योतिशिखा—त्रैमासिक पत्रिका	१.२५
युक्रान्द—मासिक पत्रिका	१.००
आचार्य रजनीश : समन्वय, विश्लेपण एवं संसिद्धि (द्वितीय संशोधित संस्करण) —डा० रामचन्द्र प्रसाद	प्रेस में

आचार्यश्री का नवीनतम सर्वोत्तम प्रकाशन

महावीर : मेरी दृष्टि में

प्रस्तुत कृति साधनाशिविर काश्मीर में दिए गए आचार्यश्री के प्रवचनों का संग्रह है। इसमें जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के जीवन-प्रसंगों तथा उनकी मान्यताओं को वैज्ञानिक ढंग से समझाया गया है और इसमें प्रतिक्रमण, सामायिक, व्रत, काय क्लेश, उपवास, अहिंसा, ध्यान आदि जैनधर्म के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के अद्भुत रहस्य प्रकट हुए हैं। साथ ही साथ अशरीरी आत्माओं से सम्पर्क, जातिस्मरण, मुक्त आत्माओं का पुनरागमन, जड़ एवं पशुजगत से तादात्म्य, निगोद आदि धार्मिक जगत के परम गुह्य विषयों का भी पहली बार उद्घाटन हुआ है।

कृति प्रयोगात्मक है। आचार्य श्री द्वारा प्रदर्शित मार्ग से गहरे तल पर उतर कर पाठक स्वयं सत्य का अनुभव कर सकते हैं।

आकार : डिमाई : : पृष्ठ ७६४ : : दिल्ली १९७१ : : सजिल्द : :

मूल्य रु० ३०·००

ACHARYA RAJNEESH'S BOOKS

I. TRANSLATED FROM THE ORIGINAL HINDI VERSION :

1.	Path of Self-Realization	4.00
2.	Seeds of Revolutionary Thoughts	4·50
3.	Philosophy of Non-Violence	0·80
4.	Who am I ?	3 00
5.	Earthen Lamps	4·50
6.	Wings of Love and Random Thoughts	3·50
7.	Towards the Unknown	1·50
8.	From Sex to Superconsciousness	6·00

II. ORIGINAL ENGLISH BOOKLETS :

9.	The Mysteries of Life and Death	4·00
10.	Meditation : A New Dimension	2·00
11.	Beyond and Beyond	2·00
12.	Flight of the Alone to the Alone	2·50
13.	LSD : A Short cut to False Samadhi	2·00
14.	Yoga : As Spontaneous Happening	2·00
15.	The Vital Balance	1·50
16.	The Gateless Gate	2·00
17.	The Silent Music	2·00
18.	The Turning In	2·00
19.	The Eternal Message	2·00
20.	What is Meditation ?	3.00
21.	The Dimensionless Dimension	2·00

III. CRITICAL STUDIES ON ACHARYA RAJNEESH :

22.	*Acharya Rajneesh* : A Glimpse	1·25
23.	*The Mystic of Feeling* : A Study in Rajneesh's Religion of Experience—Dr. R. C. Prasad	20·00
24.	*Lifting the Veil* : (Kundalini Yoga) —Dr. R. C. Prasad	(In Press)

आचार्य रजनीश की तीन अनमोल कृत्तियाँ

१. सम्भावनाओं की आहट

(मनुष्य के स्वयं के अस्तित्व एवं आत्मबोध का परिचय)—
आकार डिमाइ, पृष्ठ १६२, दिल्ली १९७१, रु० ६·००

अनुक्रम :—विरामहीन अन्तर्यात्रा; चेतन का अपना द्वार; विपरीत ध्रुवों का समन्वय संगीत; अपना-अपना अँधेरा; धारणाओं की आग; अंधे मन का ज्वर; संकल्पों के बाहर।

२. प्रेम है द्वार प्रभु का

(तेरह प्रवचनों का संकलन)— सं० स्वामी योग चिन्मय और निकलंक
आकार डिमाई, पृष्ठ २५६, दिल्ली १९७१, रु० ८·००

अन्तर्वस्तु : (१) भय या प्रेम? (२) जीवन की कला, (३) आनन्द-खोज की सम्यक् दिशा, (४) यह अधुरी दिशा, (५) शिक्षा, महत्त्वाकांक्षा और युवा-पीढ़ी का विद्रोह, (६) महायुद्ध या महाक्रान्ति? (७) शिक्षा में क्रान्ति, (८) नारी और क्रान्ति, (९) अन्तर्यात्रा के सूत्र, (१०) अहंकार, (११) क्या मनुष्य एक यंत्र है? (१२) मित्र! निद्रा से जागो, (१३) प्रेम है द्वार प्रभु का।

३. कामयोग, धर्म और गाँधी

सं० डा० रामचन्द्र प्रसाद
पृष्ठ २२४ : मूल्य रु० ३·००

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली : बनारस : पटना